समर्पण

कर्मशास्त्र के गंभीर अभ्यासी एवं धर्मनिष्ठ पं० हीराचन्द देवचन्द्र को सादर समर्पित ।

मंत्री

आत्मानंद जैन पुस्तक प्रचारक मंडल

आगरा ।

श्रीयुत हीराचंद्रभाई का परिचय ।

प्रस्तुत छठा कर्मग्रन्थ जिनको समर्पित किया गया है उनका संक्षिप्त परिचय वाचकोंको कराना जरूरी है वैसा ही रसप्रद भी है। यों तो हीराभाई को गुजरात के जैनसमाज खासकर श्वेताम्बर समाज के धार्मिक अभ्यास में रस लेनेवालों में से कोई भी ऐसा न होगा जो उन्हें एक या दूसरी तरह से जानता न हो। राजपूताना, पंजाब आदि प्रदेशों के धार्मिक जिज्ञासु श्वेताम्बर भाइयों में से भी अनेक व्यक्ति उन्हें उनकी कृति के द्वारा भी जानते ही हैं; फिर भी उनका जीवनपरिचय शायद ही किसी को हो। एक तो वे स्वभाव से बहुत लज्जालु प्रकृति के हैं और किसी भी प्रकार की प्रसिद्धि से दूर रहनेवाले हैं। दूसरे वे अपने प्रिय विषय का अध्ययन-अध्यापन और चिंतन-मनन को छोड़कर किसी भी सामाजिक आदि अन्य प्रवृत्ति में नहीं पड़ते। इसलिए उनका जीवन उनके परिचय में आनेवालों के लिए भी एक तरह से अपरिचित-सा है। मैं स्वयं लगभग ३५ वर्षों से उनके परिचय में आया हूँ तो भी पूरे तौर से उनका जीवन नहीं जान पाया। अगर उनके सदा सहवासी, निकट मित्र और धर्मबन्धु ब्रह्मचारी पंडित भगवानदास हर्षचन्द्र मुझको संक्षिप्त परिचय लिखकर न भेजते तो मैं विश्वस्त रूपसे निम्न पंक्तियों में उनका परिचय देने में असमर्थ ही रहता।

भाई हीराचंद वढवाण शहर जो कि झालावाड़ में वढवाण केम्प जंकशन के निकट है और पुरानी ऐतिहासिक भूमि है, वहाँ के निवासी

उनका जन्म विक्रम सं० [illegible] के चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन—भगवान महावीर का जन्म दिन है—हुआ। उनके पिता का नाम [illegible]चन्द्र और माता का नाम [illegible] था। वे तीन भाई थे। हीराचंद[illegible] की प्राथमिक गुजराती सम्पूर्ण शिक्षा [illegible] में ही समाप्त हुई। तेरह वर्ष की उम्र में धार्मिक शिक्षा के लिए मेसाणा गये जहाँ कि [illegible]विजय जैन पाठशाला स्थापित है। उस पाठशाला में दो वर्ष तक प्राथमिक संस्कृत भाषा का तथा प्राथमिक जैन प्रकरण ग्रन्थों का अध्ययन करके वे विशेष अभ्यास के लिए अपने चार मित्रों के साथ भरोच गये।

उस समय भरोच में जैन कर्मशास्त्र और आगमशास्त्र के निपुण [illegible]युत अनूपचंद मलूकचंद जैन-समाज में सुप्रसिद्ध थे। जिनका एक [illegible]त्र मुख्य कार्य जैन शास्त्र विषयक चिंतन-मनन, लेखन ही था। जैसे [illegible]गम्बर समाज में मुरेना पं० गोपालदास बरैया के कारण उस जमाने में [illegible]सिद्ध था, वैसे ही भरोच भी श्वेताम्बर समाज में श्रीयुत अनूपचंदभाई [illegible] कारण आकर्षक था। श्रीयुत अनूपचंदभाई के निकट रहकर हीराचंद-[illegible]ाई ने छह महीने में छह कर्मग्रन्थ तथा कुछ अन्य महत्व के प्रकरणों [illegible]ा अध्ययन-आकलन कर लिया। इसके बाद ये मेसाणा गये और [illegible]नूपचंदभाई की सूचना के अनुसार विशेष संस्कृत अध्ययन करने में लग [illegible]ये। आचार्य हेमचन्द्रकृत व्याकरण तथा काव्य आदि ग्रन्थों का ठीक [illegible]ीक अध्ययन करने के बाद वे मेसाणा में ही धार्मिक अध्यापक रूप से [illegible] हुए। और करीब पाँच वर्ष उसी काम को करते रहे। वहाँ से [illegible] भी विशेष अध्ययन के लिए वे बनारस यशोविजय जैन पाठशाला [illegible] पर तबियत के कारण वे वहाँ विशेष रह न सके। वहाँ से वापिस

लौटकर मेसाणा में ही करीब डेढ़ वर्ष तक वे धार्मिक अध्यापन कराते रहे। फिर वे अहमदाबाद पहुँचे। जहाँ जाकर उन्होंने कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि कर्मविषयक आकर ग्रन्थों का गहरा आकलन किया।

हीराभाई ने आचार्य मलयगिरिकृत टीका सहित पंचसंग्रह का गुजराती अनुवाद करके विक्रम संवत् १९९२ में प्रथमखण्ड में प्रकाशित किया और उसका दूसरा खण्ड विक्रम संवत् १९९७ में प्रकाशित किया। इस अनुवाद के द्वारा वे कर्मशास्त्र के सभी जिज्ञासुओं तक पहुँच गये।

आज उनकी उम्र ५७ वर्ष की है। उन्होंने प्रथम से ही ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके उसे अभी तक सुचारु रूप से निभाया है। वे प्रकृति से इतने भद्र और सरलचेता हैं; जिसे देखकर मैं तो अनेक बार अचरज में पड़ गया हूँ। मन, वचन और कर्म में एकरूपता कैसी होती है या होनी चाहिये, इसके वे एक सजीव आदर्श हैं। वे कर्मशास्त्र के पारगामी होकर भी अन्य वैसे विद्वानों की तरह अकर्म या सेवाग्राही नहीं है। जब देखो तब वे कार्यरत ही दिखाई देते हैं और दूसरों की भलाई करने या यथा-सम्भव दूसरे के बतलाये काम कर देने में बिलकुल नहीं हिचकिचाते। उनको जाननेवाला कोई भी चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—हीराभाई-हीराभाई जैसे मधुर सम्बोधन से निःसंकोच अपना काम करने को कहता है और हीराभाई—मानों लघुता और नम्रताकी मूर्ति हो—एक सी प्रसन्नता से दूसरों के काम कर देते हैं।

वे मात्र श्वेताम्बरीय कर्मशास्त्रों के अध्ययन में ही संतुष्ट नहीं रहे। ज्यों ज्यों दिगम्बरीय कर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थ प्रसिद्ध होते गये त्यों त्यों उन्होंने उन सभी ग्रन्थों का आकलन करने का भी यथा-सम्भव प्रयत्न किया

है। हीराभाई की शास्त्र-जिज्ञासा और परिश्रमशीलता का मैं साक्षी हूँ। मैंने देखा है कि आगम, टीकाएं या अन्य कोई भी जैन ग्रन्थ सामने आया तो उसे वे पूरा करके ही छोड़ते हैं। उनका मुख्य आकलन तो कर्मशास्त्रका, खासकर श्वेताम्बरीय समग्र कर्मशास्त्र का है; पर इस आकलन के आसपास उनका शास्त्रीय वाचन-विस्तार और चिंतन-मनन इतना अधिक है कि जैन सम्प्रदाय के तत्त्वज्ञान की छोटी बड़ी बातों के लिए वे जीवित ज्ञानकोष जैसे बन गये हैं।

अन्य साम्प्रदायिक विद्वानों की तरह उनका मन मात्र सम्प्रदायगामी व संकुचित नहीं है। उनकी दृष्टि सत्य जिज्ञासा की ओर मुख्यतया मैंने देखी है। इससे वे सामाजिक, राष्ट्रीय या मानवीय कार्यों का मूल्याङ्कन करने में दुराग्रह से गल्ती नहीं करते। गुजरात में पिछले लगभग ३५ वर्षों में जो जैन धार्मिक अध्ययन करनेवाले पैदा हुए हैं; चाहे वे गृहस्थ हों या साधु-साध्वी, उनमें से शायद ही कोई ऐसा हो जिसने थोड़ा या बहुत हीराभाई से पढ़ा या सुना न हो। कर्मशास्त्र के अनेक जिज्ञासु साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाएं हीराभाई से पढ़ने के लिए लालायित रहते हैं और वे भी आरोग्य की बिना परवाह किये सबको संतुष्ट करने का यथा-संभव प्रयत्न करते रहते हैं। ऐसी है इनके शास्त्रीय तपकी संक्षिप्त कथा।

मैंने इस्वी सन् १९१६-१९१७ में कर्मग्रन्थों के हिंदी अनुवाद का कार्य आग्रा तथा काशी में प्रारम्भ किया और जैसे जैसे अनुवाद कार्य करता गया वैसे वैसे उस कर्मग्रन्थ के हिंदी अनुवाद की प्रेसकोपी प्रेस में छपने के लिए भेजने के पहले हीराचंदभाई के पास देखने व [illegible] के लिए भेजता गया। १९२१ तक में चार हिंदी कर्मग्रन्थ तैयार

थे जो हीराचंदभाई ने छपने के पहले ही देख लिये थे। इसके बाद कुछ वर्षों तक आगे के अनुवाद का काम मेरी अन्यान्य प्रवृत्ति के कारण स्थगित था। पर आखिर को बाकी के दो कर्मग्रन्थों का हिंदी अनुवाद भी तैयार हो ही गया। पञ्चम कर्मग्रन्थ का अनुवाद तो पं० कैलाशचंद्रजीने किया और प्रस्तुत छठे कर्मग्रन्थका अनुवाद पं० फूलचंद्रजी ने किया है। पंचम और षष्ठ इन दोनों हिंदी अनुवादों को भी छपने के पहले श्रीयुत हीराभाई ने पूरी सावधानी से देख लिया और अपनी व्यापक ग्रन्थोपस्थिति तथा सूक्ष्म सूझ से अनेक स्थलों में सुधार सूचित किये। उनके सुझाये हुए सुधार इतने महत्त्व के और इतने सच्चे थे कि जिनको देखकर पंडित कैलाशचंद्रजी तथा पंडित फूलचंद्रजी जैसे कर्मशास्त्री को भी हीराचंदभाई के साक्षात् परिचय के बिना ही उनकी शास्त्र-निष्ठा की ओर आकर्षित होते मैंने पाया।

मैंने जैन समाज के जुदे जुदे फिरकों में प्रसिद्ध ऐसे अनेक कर्म-शास्त्रियों को देखा है; पर श्रीयुत हीराचंदभाई जैसे सरल, उदार और सेवापरायण चेता कर्मशास्त्री विरल ही पाये हैं। आज वे अहमदाबाद में रहते हैं और जैन प्राच्य-विद्या के अध्ययन, अध्यापन और संशोधन के उद्देश से स्थापित एक संस्था में अपने धर्मबन्धु पं० भगवानदास के साथ अध्यापन कार्य करते हैं। उनकी धर्मभीरुता और आर्थिक संतुष्टि एक सच्चे धर्मशास्त्रके अभ्यासी को शोभा देनेवाली है जो इस युग में विरल होने के कारण अनुकरणीय है।

—सुखलाल संघवी

बाबू दयालचन्दजी जौहरी के बारे में दो शब्द

मैं यहाँ बाबू दयालचन्दजी का विशेष परिचय या जीवन-वृत्त लिखने नहीं बैठा हूं। मैं तो केवल एक विशेष कार्य की समाप्ति के अवसर पर उनके उत्साह और पुरुषार्थ का संकेत मात्र करने बैठा हूं। यों तो मेरा परिचय उक्त बाबूजी से ४० वर्ष पहले से शुरू हुआ है जो अभी तक अखण्ड रूप से चला आता है पर मैं यहाँ उस लम्बे परिचय में से प्रस्तुत अनुवाद उपयोगी एक ही अंश का संक्षिप्त उल्लेख करना अभी उपयुक्त समझता हूँ।

यद्यपि बाबू दयालचन्दजी प्रथम से ही व्यापारी रहे हैं; फिर भी उनकी विद्यावृत्ति प्रबल रही है। इसी विद्यावृत्ति ने उनके द्वारा आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल की स्थापना बहुत वर्षों से कराई है। बाबूजी ने अपनी सूझ से सोचा कि जैन परम्परा में धर्म शास्त्र के अभ्यासियों के लिए कर्म शास्त्र महत्त्व का स्थान रखते हैं तो उस विषय के ग्रन्थों का जैसा गुजराती अनुवाद है वैसा हिन्दी में क्यों न कराया जाय? बाबूजी ने इसी विचार से मुझे बड़ोदे में १९१६ में लिखा कि आप गुजरात में रह गये; पर कर्म ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद मण्डल के द्वारा करा करके प्रकाशित करना आवश्यक है। बाबूजी की लगनी और स्नेहाकर्षण के वशीभूत होकर मैं आग्रा की ओर चला गया और कर्म ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद का कार्य प्रारंभ किया। आग्रा तथा काशी में अमुक काम किया और फिर पूना गया। पूना में अन्य प्रवृत्ति का भार मेरे पर कुछ अधिक

पड़ा। जिससे कर्मग्रन्थों के अनुवाद आदि का कार्य कुछ ढीला पड़ गया और मुद्रण कार्य बिगड़ने भी लगा।

बाबू दयालचन्दजी ने देखा कि आरंभ किया काम बिगड़ रहा है तो मुझे फिर पूना से आग्रा खींच लिया। आग्रा में उन्हीं की सूझ और योजना से हमने एक विद्यार्थी-मण्डल तथा लेखक-मण्डल बनाया। जहाँ फिर कर्मग्रंथ के अनुवाद आदि का कार्य चालू हुआ। ई० स० १९२१-२२ तक में चार कर्मग्रंथों के जो हिन्दी अनुवाद अपने नये रूप के साथ पहले पहल प्रकाशित हुए वह बाबू दयालचन्दजी की अखण्ड लगन का परिणाम है। वे इस कार्य को पूरा करने के लिये इतने पीछे न पड़ते और सदा जागरूक न रहते तो अधिक संभव यही है कि वह काम जिस धैर्य और निश्चिन्तता से पूरा हुआ कभी होने नहीं पाता।

ई० स० १९२२ से मैं अहमदाबाद गुजरात विद्यापीठ में आ गया और आगे का कर्मग्रंथ विषयक कार्य बन्द रहा। यद्यपि मैंने पञ्चम कर्मग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद २।३ जितना कर रखा था; पर न तो उसे पूरा कर सका और न उसकी प्रतिलिपि ही सुरक्षित रख सका। पर बाबू दयालचन्दजी कब चुप रहने वाले? बीच बीच में वे मुझको कर्मग्रन्थ के बाकी कार्य को किसी तरह सम्पन्न करने या कराने के लिये लिखते एवं कहते रहे। पर इसके लिये सुयोग बहुत ही पीछे से मिला। लगभग १९४० के आस पास बाकी के दो कर्मग्रंथों में से पञ्चम का हिन्दी अनुवाद कराने का भार मैंने पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री को सौंपा। उन्होंने अपनी योग्यता से उस कार्य को सुसंपन्न किया। फिर मैं एक तरह से निश्चिन्त ही था; पर बाबू दयालचन्दजी ने मुझे कभी चैन से रहने न दिया। उन्होंने बार

वार यही कहा कि कुछ भी हो; पर छहों कर्मग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद तो मण्डल की ओर से पूरा कराना ही चाहिये। आखिर को पं० फूलचन्द्रजी को छठे कर्मग्रन्थ का अनुवाद का कार्य सोंपवाया जो अभी प्रकाशित हो रहा है। करीब ३० वर्ष जितने लम्बे समय में अनेक विघ्न-बाधाओं और ढीलाइयों के होते हुए भी जो छहों कमग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद पूरा होकर प्रकाशित हुआ है, इसका मुख्य यश मेरी राय में बाबू दयालचन्द जी को है। उनकी नम्र एवं उदार लगन सतत न होती तो शायद ही मेरे द्वारा चार अनुवाद और पीछे से अन्य द्वारा दो अनुवाद इस तरह पूर्ण होकर प्रकाशित होते।

कर्मग्रंथों के ऊपर पुरानी संस्कृत-प्राकृत टीकाएँ तथा गुजराती अनेक टबे मौजूद हैं और छपे भी हैं। फिर भी मण्डल के द्वारा प्रकाशित ये छहों हिन्दी अनुवाद अपना बिलकुल अनोखा स्थान रखते हैं। इन हिन्दी अनुवादों के साथ जो प्रस्तावना परिशिष्ट और टिप्पण आदि का परिकर है वह अन्य किसी कर्मग्रन्थ के प्रकाशन के साथ नहीं है। अपना निजी व्यक्तित्व बाद करके केवल सत्य की दृष्टि से कहना हो तो मैं इतना कह सकता हूं कि मण्डल ने छह कर्म ग्रंथों के हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध करके श्वेतांबर और दिगंबर दोनों फिरकों में कर्म-तत्त्व विषयक शास्त्रों का अनुवाद, संपादन और प्रकाशन का एक नया ही समयानुकूल मार्ग दिखाया है। इसका अर्थ यह नहीं कि हिंदी अनुवाद सर्वाङ्ग पूर्ण हैं। आज की नई परिस्थिति के अनुसार तो वे भी अनेक संशोधन-परिवर्धन के पात्र हैं। पर उनका प्रस्थान इस दिशा में सर्व प्रथम है और अन्य प्रकाशनों का प्रेरक बना है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

यहाँ तो इतना ही वक्तव्य है कि मण्डल के द्वारा अन्यान्य कार्यों के साथ जो छह हिंदी कर्मग्रंथानुवाद तैयार होकर प्रकाशित हुए हैं उसके मूल में प्रेरक रूप से बाबू दयालचंदजी का ही हाथ रहा है जिसका मैं साक्षी हूँ। कहाँ से, किसके पास से, किस तरह पैसा जुटाना, किस तरह अन्य चिंताएँ दूर करना, किस तरह पंडितों और अन्य कार्यकर्ताओं से पेश आना, उनसे विनम्र भाव से काम लेना इत्यादि बातें जैसी बाबू दयालचंदजी में सहज हैं वैसी अन्यत्र मैंने विरल पाई हैं। इसलिये इस अन्तिम कर्मग्रंथ के अनुवाद की समाप्ति के साथ जैसा मेरा एक कार्य पूरा होता है वैसा ही बाबू दयालचंदजीका शुभ संकल्प भी पूरा होता है। मैं आशा करता हूँ कि इससे कर्मशास्त्र के अभ्यासियों तथा स्वयं बाबू दयालचंदजी को सन्तोष-लाभ होगा।

सुखलाल संघवी

—०—

बार यही कहा कि कुछ भी हो; पर छहों कर्मग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद तो मण्डल की ओर से पूरा कराना ही चाहिये। आखिर को पं० फूलचन्द्रजी को छठे कर्मग्रन्थ का अनुवाद का कार्य सोंपवाया जो अभी प्रकाशित हो रहा है। करीब ३० वर्ष जितने लम्बे समय में अनेक विघ्न-बाधाओं और ढीलाइयों के होते हुए भी जो छहों कमग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद पूरा होकर प्रकाशित हुआ है, इसका मुख्य यश मेरी राय में बाबू दयालचन्द जी को है। उनकी नम्र एवं उदार लगन सतत न होती तो शायद ही मेरे द्वारा चार अनुवाद और पीछे से अन्य द्वारा दो अनुवाद इस तरह पूर्ण होकर प्रकाशित होते।

कर्मग्रंथों के ऊपर पुरानी संस्कृत-प्राकृत टीकाएँ तथा गुजराती अनेक टबे मौजूद हैं और छपे भी हैं। फिर भी मण्डल के द्वारा प्रकाशित ये छहों हिन्दी अनुवाद अपना बिल्कुल अनोखा स्थान रखते हैं। इन हिन्दी अनुवादों के साथ जो प्रस्तावना परिशिष्ट और टिप्पण आदि का परिकर है वह अन्य किसी कर्मग्रन्थ के प्रकाशन के साथ नहीं है। अपना निजी व्यक्तित्व बाद करके केवल सत्य की दृष्टि से कहना हो तो मैं इतना क सकता हूं कि मण्डल ने छह कर्म ग्रंथों के हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध कर श्वेतांबर और दिगंबर दोनों फिरकों में कर्म-तत्त्व विषयक शास्त्रों व अनुवाद, संपादन और प्रकाशन का एक नया ही समयानुकूल मार दिखाया है। इसका अर्थ यह नहीं कि हिंदी अनुवाद सर्वांङ्ग पूर्ण है। आज की नई परिस्थिति के अनुसार तो ये भी अनेक संशोधन-परिवर्धन के पात्र हैं। पर इनका प्रस्थान इस दिशा में सर्व प्रथम है और अन्य प्रका शनों का प्रेरक बना है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

श्रीमान् पं० सुखलालजी ने मेरे विषय में दो शब्द लिखकर मण्डल की स्थापना का श्रेय मुझे ही दिया है किन्तु वस्तुतः मंडलकी स्थापना सन् १९०६ में आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिकी प्रेरणा से देल्ही में हुई है और इसमें मैं अकेला ही नहीं था। स्व० श्री दुलेल सिंहजी टीकमचन्दजी जौहरी देल्ही और श्री जवाहर लालजी नाहटा, सिकन्दराबाद का पूर्ण सहयोग रहा है।

दयालचन्द्र
आगरा।

सम्पादकीय वक्तव्य

सन् ४२ की बात है। जीवन में वस्तुओं की मंहगाई का अनुभव होने लगा था। आर्थिक सन्तुलन रखने के लिये अधिक श्रम करने का निश्चय किया। फलतः श्रीमान् पं० सुखलाल जी संघवी से बातचीत की। उन्होंने सप्ततिका का अनुवाद करने के लिये मुझसे आग्रह किया। यद्यपि मेरा झुकाव कर्मप्रकृति की ओर विशेष था। फिर भी तत्काल इसका अनुवाद कर देने का ही मैंने निश्चय किया। अनुवाद कार्य तो उसी वर्ष पूरा कर लिया था पर छपाई आदि की विशेष सुविधा न हो सकने के कारण यह सन् ४६ के मध्य तक यों ही पड़ा रहा।

अनुवाद में आचार्य मलयगिरि कृत टीका का उपयोग हुआ है। विशेषार्थ उसी के आधार से लिखे गये हैं। कहीं कहीं पं० जयसोम रचित गुजराती टबे का भी उपयोग किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिये यथास्थान कोष्ठक दिये गये हैं। इनके बनाने में मुनि जीवविजय जी कृत सार्थ कर्मग्रन्थ द्वि० भाग से सहायता मिली है।

टिप्पणियाँ दो प्रकार की दी गई हैं। प्रथम प्रकार की टिप्पणियाँ वे हैं जिनमें सप्तिका के विषय का गाथाओं से साम्य सूचित होता है। और दूसरे प्रकार की टिप्पणियाँ वे हैं जिनमें कुछ मान्यताओं के विषय में मतभेद की चर्चा की गई है। ये टिपणियाँ हिन्दी में दी गई हैं। आवश्यकतानुसार उनकी पुष्टि में प्रमाण भी दिये गये हैं।

कुछ मान्यताएँ एवं संज्ञाएँ ऐसी हैं जो दिगम्बर और श्वेताम्बर कार्मिक साहित्य में कुछ अन्तर से व्यवहृत होने लगी हैं। इस विषय में हमने श्वेताम्बर परम्परा का पूरा ध्यान रखा है।

अहमदाबाद निवासी पं० हीराचन्दजी कर्मशास्त्र के अच्छे विद्वान हैं। प्रस्तुत अनुवाद इनके पास भेजा गया था। इन्होंने उसे पढ़कर

जो सुझाव भेजे थे तदनुसार संशोधन कर दिया गया है। फिर भी अनुवाद में गलती होना संभव है जिसका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है।

अन्त में मैं उन सभी महानुभावों का आभार मानता हूँ जिनकी यथा योग्य सहायता से मैं इस कार्य को सम्पन्न कर सका हूँ। सर्व प्रथम मैं जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् श्रीमान् पं० सुखलाल जी का चिर आभारी हूँ जिनके प्रेमवश मैंने इस काम को हाथ में लिया था। पं हीराचंद जी ने पूरे अनुवाद को पढ़कर अनेक सुझाव भेजने का कष्ट किया था। इससे अनुवाद को निर्दोष बनाने में बड़ी सहायता मिली है, इसलिये मैं उनका भी आभारी हूँ। 'मैं सप्ततिका का अनुवाद कर दूँ' यह प्रस्ताव मेरे मित्र पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने किया था। उन्होंने पं० सुखलाल जी से प्रारम्भिक बातचीत भी की थी। इस हिसाब से इस कार्य को चालना देने में पं० महेन्द्रकुमार जी का विशेष हाथ है अतः मैं इनका विशेष आभारी हूँ।

हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन दर्शन व जैन आगम के अध्यापक पं० दलसुख जी मालवणिया का तो मैं और भी विशेष आभारी हूँ, इन्हीं के प्रयत्न से यह ग्रन्थ इतने जल्दी प्रकाश में आ रहा है। इन्होंने छपाई आदि में जहाँ जिस बात की कमी देखी उसे पूरा करके मेरी सहायता की है। मण्डल के मन्त्री बाबू दयालचन्दजी एक सहृदय व्यक्ति हैं। मूल ग्रन्थ के छप जाने पर भी प्रस्तावना के कारण बहुत दिन तक ग्रन्थ को प्रेस में रुकना पड़ा है फिर भी आप अपने सौजन्य-पूर्ण व्यवहार को यथावत् निभाते गये। इसलिये इनका मैं सर्वाधिक आभारी हूँ।

बनारस।
मार्गशीर्ष कृष्ण ७
वीर नि० सं० २४७४

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रस्तावना

१—कर्म साहित्यकी क्रम परम्परा का निर्देश

परिभाषा—जैनदर्शनमें पुद्गल द्रव्यकी अनेक प्रकारकी वर्गणाएँ बतलाई हैं। इनमेंसे औदारिक शरीर वर्गणा, वैक्रिय शरीर वर्गणा, आहारक शरीर वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मण वर्गणा इन वर्गणाओंको संसारी जीवद्वारा ग्राह्य माना गया है। संसारी जीव इन वर्गणाओंको ग्रहण करके विभिन्न शरीर, वचन और मन आदिकी रचना करता है। इनमेंसे प्रारम्भकी तीन वर्गणाओंसे औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरोंकी रचना होती है। तैजस वर्गणाओंसे तैजस शरीर बनता है। भाषा वर्गणाएँ विविध प्रकारके शब्दोंका आकार धारण करती हैं। श्वासोच्छ्वास वर्गणा श्वासोच्छ्वासके काम आती हैं। हिताहितके विचारमें साहाय्य करनेवाले द्रव्यमनकी रचना मनोवर्गणाओंसे होती है। और ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्म कार्मण वर्गणाओंसे बनते हैं। इन सबमें कर्म संसारका मूल कारण माना गया है। वैदिक साहित्यमें जिसका लिंग शरीररूपसे उल्लेख किया गया है वह ही जैनदर्शनमें कर्म शब्द द्वारा पुकारा जाता है।

वैसे तो संसारी जीवकी प्रतिक्षण जो राग द्वेष आदि रूप परिणति हो रही है। उसकी कर्म संज्ञा है। कर्मका अर्थ क्रिया है, यह अर्थ

---

(१) गोम्मटसार जीवकाण्डमें २३ प्रकारकी वर्गणाएँ बतलाई हैं। उनमेंसे आहार वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मण वर्गणा ये संसारी जीवद्वारा ग्राह्य मानी गई हैं।

बाद जो अनुबद्ध केवली और श्रुतकेवली हुए उन तक तो यह अंग पूर्वसम्बन्धी ज्ञान अवस्थित चला आया, किन्तु इनके बाद इसकी यथावत् परम्परा न चल सकी। धीरे-धीरे लोग इसे भूलने लगे और इस प्रकार मूल साहित्यका बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया। ऊपर हम मूलभूत जिस कर्म साहित्यका उल्लेख कर आये हैं। उसमेंसे कर्मप्रवादका तो लोप हो ही गया। केवल अग्रायणीय पूर्व और ज्ञानप्रवाद पूर्वका कुछ अंश बच रहा। तब श्रुतधारक ऋषियोंको यह चिन्ता हुई कि पूर्व साहित्यका जो भी हिस्सा शेष है उसका संकलन हो जाना चाहिये। इस चिन्ताका पता उस कथासे लगता है जो धवला प्रथम पुस्तकमें निबद्ध है। श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित अंग साहित्यके संकलनके लिये जिन तीन वाचनाओंका उल्लेख मिलता है वे भी इसी बातकी द्योतक हैं।

वर्तमान मूल कर्मसाहित्य और उसकी संकलनाका आधार— अबतक जो भी प्रमाण मिले हैं उनके आधारसे यह कहा जा सकता है कि कर्म साहित्य व जीवसाहित्यके संकलनमें श्रुतधर ऋषियोंकी एक चिन्ता ही विशेष सहायक हुई थी। वर्तमानमें दोनों परम्पराओंमें जो भी कर्मविषयक मूल साहित्य उपलब्ध होता है वह इसीका फल है। अग्रायणीय पूर्वकी पाँचवीं वस्तुके चौथे प्राभृतके आधारसे षट्खण्डागम, कर्मप्रकृति, शतक और सप्ततिका इन ग्रन्थोंका संकलन हुआ था और ज्ञानप्रवाद पूर्वकी दसवीं वस्तुके तीसरे प्राभृतके आधारसे कषायप्राभृतका संकलन हुआ था। इनमेंसे कर्मप्रकृति, यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परामें माना जाता है कषायप्राभृत और षट्खण्डागम ये दो दिगम्बर परम्परामें माने जाते हैं। तथा कुछ पाठ भेदके साथ, शतक और सप्ततिका ये दो ग्रन्थ दोनों परम्पराओंमें माने जाते हैं।

जैसे इस साहित्यको पूर्व साहित्यका उत्तराधिकार प्राप्त है वैसे ही यह शेष कर्म साहित्यका आदि स्रोत भी है। आगे टीका, टिप्पनी

था रही है। सप्तिका यह नाम इसी आधारसे रखा गया जान पड़ता है। इसे षष्ठ कर्मग्रन्थ भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि वर्तमानमें कर्म ग्रन्थोंकी जिस क्रमसे गणना की जाती है इसके अनुसार इसका छठा नम्बर लगता है।

गाथासंख्या—प्रस्तुत ग्रन्थका सप्तिका यह नाम यद्यपि गाथाओंकी संख्याके आधारसे रखा गया है तथापि इसकी गाथाओंकी संख्याके विषयमें मतभेद है। अबतक हमारे देखनेमें जितने संस्करण आये हैं उन सबमें इसकी गाथाओंकी अलग अलग संख्या दी गई है। श्री जैन श्रेयस्कर मण्डलकी ओरसे इसका एक संस्करण म्हेसाणासे प्रकाशित हुआ है उसमें इसकी गाथाओंकी संख्या ९१ दी गई है। प्रकरण रत्नाकर चौथा भाग बम्बईसे प्रकाशित हुआ है उसमें इसकी गाथाओंकी संख्या ९४ दी गई है। आचार्य मलयगिरिकी टीकाके साथ इसका एक संस्करण श्री आत्मानन्द जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित हुआ है उसमें इसकी गाथाओंकी संख्या ७२ दी गई है। और चूर्णिके साथ इसका एक संस्करण श्री ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित हुआ है उसमें इसकी गाथाओंकी संख्या[1] ७१ दी गई है। इसके अतिरिक्त ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित होनेवाले संस्करणमें जिन तीन मूल गाथा प्रतियोंका परिचय दिया गया है उनके आधारसे इसकी गाथाओंकी संख्या ६१,९२ और ९२ प्राप्त होती है।

अब देखना यह है कि इसकी गाथाओंकी संख्याके विषयमें इतना मतभेद क्यों है। छानबीन करनेके बाद मुझे इसके निम्नलिखित तीन कारण ज्ञात हुए हैं।

---

(१) यह चूर्णि ७१ गाथाओं पर न होकर ८६ गाथाओं पर है। इससे चूर्णिकारके मतसे सप्ततिकाकी गाथाओंकी संख्या ८६ सिद्ध होती है। इसमें अन्तर्भाष्य गाथाएँ भी सम्मिलित हैं।

मूल गाथा तरीके मानी लीधी छे परन्तु ए गाथाने चूर्णिकारे 'पाढंतरं' लखीने पाठान्तर गाथा तरीके निर्देशी छे; एटले 'बह पगईओ सोलस' गाथा मूलनी नथी ए माटे चूर्णिकारनो सचोट पुरावो होवाथी सित्तरी प्रकरणनी ७१ गाथाओ घटित थाय छे। आद्य गाथाने मंगल गाथा तरीके समजवाथी सित्तरीनी सित्तेर गाथाओ थई जाय छे।'

किन्तु इस गाथाके अन्तमें केवल 'पाढंतरं' ऐसा लिखा होनेसे इसे मूल गाथा न मानना युक्त प्रतीत नहीं होता। जब इस पर चूर्णि और आचार्य मलयगिरिकी टीका दोनों हैं तब इसे मूल गाथा मानना ही उचित प्रतीत होता है। हमने इसी कारण प्रस्तुत संस्करणमें ७२ गाथाएँ स्वीकार की हैं। इनमेंसे अन्तकी दो गाथाएँ विषयकी समाप्तिके बाद आई हैं अतः इनकी गणना नहीं करने पर ग्रन्थका सित्तरी यह नाम सार्थक ठहरता है।

ग्रन्थकर्ता—सप्ततिकाके रचयिता कौन थे, अपने पावन जीवनसे किस भूमिको इन्होंने पवित्र किया था, इनके माता-पिता कौन थे, दीक्षा गुरु और विद्यागुरु कौन थे, इन सब प्रश्नोंके उत्तर पानेके वर्तमानमें कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं। इस समय सप्ततिका और उसकी दो टीकाएँ हमारे सामने हैं। कर्ताके नाम ठामके निर्णय करनेमें इनसे किसी प्रकारकी सहायता नहीं मिलती।

यद्यपि स्थिति ऐसी है तथापि जब हम शतककी अन्तिम १०४ व १०५ नम्बरवाली गाथाओंसे सप्ततिकाकी मंगल गाथा और अन्तिम गाथाका क्रमशः मिलान करते हैं तो यह स्वीकार करनेको जी चाहता है कि बहुत सम्भव है कि इन दोनों ग्रन्थोंके संकलयिता एक ही आचार्य हों।

जैसे सप्ततिकाकी मंगल गाथामें इस प्रकरणको दृष्टिवाद अंगकी एक बूँदके समान बतलाया है वैसे ही शतककी १०४ नम्बरवाली गाथामें भी इसे कर्मप्रवाद श्रुतरूपी सागरकी एक बूँदके समान बतलाया गया

इस हिसाबसे विचार करने पर कर्मप्रकृति, शतक और सप्ततिका ये तीनों ग्रन्थ एक कर्तृक सिद्ध होते हैं।

किन्तु कर्मप्रकृति और सप्ततिकाका मिलान करने पर ये दोनों एक आचार्यकी कृति हैं यह प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि इन दोनों ग्रन्थोंमें विरुद्ध दो मतों का प्रतिपादन किया गया है। उदाहरणार्थ—सप्ततिकामें अनन्तानुबन्धी चतुष्कको उपशम प्रकृति बतलाया गया है। किन्तु कर्मप्रकृतिके उपशमना प्रकरणमें 'नंतरकरणं उवसमो वा' यह कहकर अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी उपशमविधि और अन्तरकरण विधिका निषेध किया गया है।

इस परसे निम्न तीन प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

१—क्या शिवशर्म नामके दो आचार्य हुए हैं एक वे जिन्होंने शतक और सप्ततिकाकी रचना की है और दूसरे वे जिन्होंने कर्मप्रकृतिकी रचना की है?

२—शिवशर्म आचार्यने कर्मप्रकृतिकी रचना की, क्या यह किंवदन्तीमात्र है?

३—शतक और सप्ततिकाकी कुछ गाथाओंमें समानता देखकर एककर्तृक मानना कहाँ तक उचित है?

यह भी सम्भव है कि इनके संकलयिता एक ही आचार्य हों। किन्तु इनका संकलन विभिन्न दो आधारों से किया गया हो। जो कुछ भी हो। तत्काल उक्त आधारसे सप्ततिकाके कर्ता शिवशर्म ही हैं ऐसा निश्चित कहना विचारणीय है।

एक मान्यता यह भी प्रचलित है कि सप्ततिकाके कर्ता चन्द्रर्षि महत्तर हैं। किन्तु इस मतकी पुष्टिमें कोई सबल प्रमाण नहीं पाया जाता। सप्ततिकाकी मूल ताडपत्रीय प्रतियोंमें निम्नलिखित गाथा पाई जाती है—

'गाहग्गं सयरीए चंदमहत्तरमयाणुसारीए।
टीगाइ निअमिआणं एगूणा होइ नउईओ॥'

इसका आशय है कि चन्द्रर्षि महत्तरके मतका अनुसरण करनेवाल
टीकाके आधारसे सप्ततिकाकी गाथाएँ ८९ हैं।

किन्तु टबेकारने इसका अर्थ करते समय सप्ततिकाके कर्ताको ही
चन्द्रमहत्तर बतलाया है। मालूम पड़ता है कि इसी भ्रमपूर्ण अर्थके
कारण सप्ततिकाके कर्ता चन्द्रर्षिमहत्तर हैं इस भ्रान्तिको जन्म
मिला है।

प्रस्तुत सप्ततिकाके ऊपर जिस चूर्णिका उल्लेख हम अनेक बा
कर आये हैं उसमें १० अन्तर्भाष्य गाथाओंको व ७ अन्य गाथाओंको
मूल गाथाओंमें मिलाकर कुल ८६ गाथाओं पर टीका लिखी गई है।
इनमेंसे १० अन्तर्भाष्य गाथाएँ हमने परिशिष्टमें दे दी हैं। ७ अन्
गाथाएँ यहाँ दी जाती हैं—

इगि विगल पगलपंचंमिगा उ चत्तारि आइओ उदया।
उगुवीस अट्ठारस विसयअट्ठनउई य न य सेसा ॥ १ ॥

पंचाइ नव य पनरस सोलस अट्ठारसेव उगुवीसा।
एगाहि दु चउवीसा पणुवीसा बायरे जाण ॥ २ ॥

संतावीसं सुहुमे अट्ठावीसं पि मोहपयडीओ।
उवसंतवीयरागे उवसंता होंति नायव्वा ॥ ३ ॥

अणियट्टिबायरे थीणगिद्धितिग णिरयतिरियणामाउ।
संखेज्जइमे सेसे तप्पाओग्गाओ खीयंति ॥ ४ ॥

एत्तो हणइ कसायट्ठगं पि पच्छा णपुंसगं इत्थिं।
तो णोकसायछक्कं छुहइ संजलणकोहम्मि ॥ ५ ॥

(१) देखो प्रकरण रत्नाकर ४ था भाग पृ० ८६६। (२) देखो चूर्णि
पृ० २६। (३) देखो चूर्णि पृ० ६२। (४) देखो चूर्णि पृ० ६१

[1]खीणकसायदुचरिमे णिद्दं पयलं च हणइ छउमत्थो।
आवरणमंतराए छउमत्थो चरिमसमयम्मि ॥ ६ ॥
संभिन्नं [2]पासंतो लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं।
तं नत्थि जं न पासइ भूयं सव्वं भविस्सं च ॥ ७ ॥

इनमेंसे ४, ५ और ६ नम्बरकी तीन गाथाएँ दिगम्बर परम्पराके सप्ततिकाकी मूल गाथाएँ हैं। ये गाथाएँ आचार्य मलयगिरिकी टीकामें भी निबद्ध हैं। इनमेंसे छह नम्बरकी गाथा का तो आचार्य मलयगिरिने 'तथा चाह सूत्रकृत्' कह कर उल्लेख भी किया है।

मालूम होता है कि 'गाहग्गं सयरीए' यह गाथा इसी चूर्णिके आधारसे लिखी गई है। इससे दो बातोंका पता लगता है एक तो यह कि चन्द्रर्षिमहत्तर उक्त चूर्णि टीकाके ही कर्ता हैं सप्ततिकाके नहीं और दूसरी यह कि चन्द्रर्षिमहत्तर इन ८९ गाथाओंको किसी न किसी रूपमें सप्ततिकाकी गाथाएँ मानते थे।

इस प्रकार यद्यपि चन्द्रर्षि महत्तर सप्ततिकाके कर्ता हैं इस मतका निरसन हो जाता है तथापि किस महानुभावने इस अपूर्व कृतिको जन्म दिया था इस बातका निश्चयपूर्वक कथन करना कठिन है। बहुत सम्भव है कि शिवशर्म सूरिने ही इसकी रचना की हो। यह भी सम्भव है कि अन्य आचार्य द्वारा इसकी रचना की गई हो।

रचनाकाल—ग्रन्थकर्ता और रचनाकाल इनका सम्बन्ध है। एकका

(१) देखो चूर्णि० प० ६६। (२) देखो चूर्णि प० ६७।

निर्णय हो जाने पर दूसरेका निर्णय करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। ऊपर हम ग्रन्थकर्ताके विषयमें निर्देश करते समय यह संभावना प्रगट कर आये हैं कि या तो शिवशर्मसूरिने इसकी रचना की है या इसके पहले ही यह लिखा गया था। साधारणतः शिवशर्म सूरिका अस्तित्वकाल विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि माना गया है। इस हिसाबसे विचार करनेपर इसका रचनाकाल, विक्रमकी पाँचवी शताब्दी या इससे पूर्ववर्ती काल ठहरता है। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपनी विशेषणवतीमें अनेक बार सित्तरीका उल्लेख किया है। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणका काल विक्रमकी सातवीं शताब्दि निश्चित है, अतः पूर्वोक्त कालको यदि आनुमानिक ही मान लिया जाय तब भी इतना तो निश्चित ही है कि विक्रमकी सातवीं शताब्दिके पहले इसकी रचना हो गई थी। इसकी पुष्टि दिगम्बर परम्परामें प्रचलित प्राकृत पंचसंग्रहसे भी होती है। प्राकृत पंचसंग्रह का संकलन विक्रमकी सातवीं शताब्दिके आस-पास हो चुका था। इसमें सप्ततिका संकलित है अतः इसकी रचना प्राकृत पंचसंग्रहके रचनाकालसे पहले हो गई थी यह निश्चित होता है।

टीकाएँ—*यहाँ अब सप्ततिकाकी टीकाओंका संक्षेपमें परिचय करा दे*... प्रतीत होता है। प्रथम कर्मग्रन्थके पृष्ठ १७५ पर ... विषयक ग्रन्थोंकी एक सूची छपी है। उसमें सप्ततिकाकी अनेक टिप्पनियोंका उल्लेख है। पाठकोंकी जानकारीके लिये आवश्यक संशोधन साथ हम उसे यहाँ दे रहे हैं।

(१) सयरीए मोहबंधट्ठाणा पंचादओ कया पंच। अनिअट्टि... छत्ता णवादओदीरणा पगए ॥६०॥ आदि। विशेषणवती।

टीका नाम	परिमाण	कर्ता	रचनाकाल
अन्तर्भाष्य गा०	गा० १०	अज्ञात	अज्ञात
भाष्य	गाथा १९१	अभयदेव सूरि	वि.११-१२वीं श.
चूर्णि	पत्र १३२	अज्ञात	अज्ञात
चूर्णि	श्लो० २३००	चन्द्रर्षि महत्तर	अनु० ७वीं श०
वृत्ति	,, ३७८०	मलयगिरि सूरि	वि.१२-१३वीं श.
भाष्यवृत्ति	,, ४१५०	मेरुतुंग सूरि	वि.सं. १४४९
टिप्पन	,, ५७४	रामदेव	वि.१२ वीं श.
अवचूरि	देखो नव्य कर्म ग्रन्थकी अव०	गुणरत्न सूरि	वि. १५वीं श.

इनमेंसे १ अन्तर्भाष्य गाथा, २ चन्द्रर्षि महत्तरकी चूर्णि और ३ मलयगिरि सूरिकी वृत्ति इन तीनका परिचय कराया जाता है।

अन्तर्भाष्य गाथाएँ -सप्ततिकामें अन्तर्भाष्य गाथाएँ कुल दस हैं। ये विविध विषयोंका खुलासा करनेके लिये रची गई हैं। इनकी रचना किसने की इसका निश्चय करना कठिन है। सम्भव है प्रस्तुत सप्ततिकाके संकलयिताने ही इनकी रचना की हो। खास खास प्रकरण पर कषायप्राभृतमें भी भाष्यगाथाएँ पाई जाती हैं और उनके रचयिता स्वयं कषायप्राभृतकार हैं। बहुत संभव है इसी पद्धतिका यहाँ भी अनुसरण किया गया

(१) इसका उल्लेख जैन ग्रन्थावलिमें मुद्रित बृहट्टिप्पनिकाके आधारसे दिया है।

(२) इसका परिमाण २३०० श्लोक अधिक ज्ञात होता है। यह मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित हो चुकी है।

उपयोग किया गया है। जैसा कि पहले बतला आये हैं। इसमें ८९ गाथाओं पर टीका लिखी गई है। ७२ गाथाएँ वे ही हैं जिन पर मलयगिरि आचार्यने टीका लिखी है। १० अन्तर्भाष्य गाथाएँ हैं और सात अन्य गाथाएँ हैं। ये सात गाथाएँ हम पहले ग्रन्थकर्ताका निर्णय करते समय उद्धृत कर आये हैं। यद्यपि ग्रन्थके बाहरकी प्रकरणोपयोगी गाथाओंकी टीका करनेकी परिपाटी पुरानी है। धवला आदि टीकाओंमें ऐसी कई उपयोगी गाथाओंकी टीका दी गई है। पर वहाँ प्रकरण या अन्य प्रकारसे इनका ज्ञान करा दिया जाता है कि यह मूल गाथा नहीं है। किन्तु इस चूर्णिमें ऐसा समझनेका कोई आधार नहीं है। चूर्णिकार मूल गाथाका व्याख्यान करते समय गाथाके प्रारम्भका कुछ अंश उद्धृत करते हैं। यथा—

उवरयबंधे चउ पण नवंस० त्ति गाहा।

मलयगिरि आचार्यने जिन गाथाओंको मूलका नहीं माना है उनकी टीका करते समय भी चूर्णिकारने इसी पद्धतिका अनुसरण किया है। यथा—

सत्तट्ठ नव० गाहा। सत्तावीसं सुहुमे० गाहा। अणियट्टिबायरे थीण० गाहा। एत्तो हणइ० गाहा। इत्यादि।

इससे यह निर्णय करनेमें बड़ी कठिनाई हो जाती है कि सप्ततिकाकी मूल गाथाएँ कौन कौन हैं। मालूम होता है कि 'गाहग्गं सयरीए' यह गाथा इसी कारण रची गई है। इसमें सप्ततिकाका इतिहास सन्निहित है। वर्तमानमें आचार्य मलयगिरिकी टीका ही ऐसी है जिससे सप्ततिकाकी गाथाओंका परिमाण निश्चित करनेमें सहायता मिलती है। इसीसे हमने गाथा संख्याका निर्णय करते समय आचार्य मलयगिरि की टीका का प्रमुखतासे ध्यान रखा है।

वृत्ति—सप्ततिकाके ऊपर एक वृत्ति आचार्य मलयगिरिने भी लिखी है। वैदिक परम्परामें टीकाकारोंमें जो स्थान वाचस्पतिमिश्रका है। जैन

परम्परामें वही स्थान मलयगिरि सूरिका है। इन्होंने जिन ग्रन्थोंपर टीकाएँ लिखीं हैं उनकी तालिका बहुत बड़ी है। ऐसी एक तालिका आत्मानन्द जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित होनेवाले ८६वें रत्न की प्रस्तावना में छपी है। पाठकोंकी जानकारीके लिये उसे हम यहाँ दे रहे हैं।

नाम	श्लोकप्रमाण	
१ भगवती सूत्र द्वितीय शतकवृत्ति	३७५०	
२ राजप्रश्नीयोपाङ्गटीका	३७००	मुद्रित
३ जीवाभिगमोपाङ्गटीका	१६०००	"
४ प्रज्ञापनोपाङ्गटीका	१६०००	"
५ चन्द्रप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका	९५००	X
६ नन्दीसूत्रटीका	७७३२	"
७ सूर्यप्रज्ञप्त्युपांगटीका	९५००	"
८ व्यवहारसूत्रवृत्ति	३४०००	"
९ बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति अपूर्ण	४६००	"
१० आवश्यकवृत्ति "	१८०००	"
११ पिण्डनिर्युक्त टीका	६७००	"
१२ ज्योतिष्करण्ड टीका	५०००	"
१३ धर्मसंग्रहणी वृत्ति	१००००	"
१४ कर्मप्रकृति वृत्ति	८०००	"
१५ पंचसंग्रहवृत्ति	१८८५०	"
१६ षडशीतिवृत्ति	२०००	"
१७ सप्ततिकावृत्ति	३७८०	"
१८ बृहत्संग्रहणीवृत्ति	५०००	"
१९ बृहत्क्षेत्रसमासवृत्ति	९५००	"
२० मलयगिरिशब्दानुशासन	५०००	(?)

अलभ्य ग्रन्थ

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका
२ ओघनिर्युक्ति टीका
३ विशेषावश्यक टीका
४ तत्त्वार्थाधिगम सूत्र टीका
५ धर्मसारप्रकरण टीका
६ देवेन्द्रनरकेन्द्रकप्रकरण टीका

मलयगिरि सूरिकी टीकाओंको देखनेसे मन पर यह छाप लगती है कि वे प्रत्येक विषय का बड़ी ही सरलताके साथ प्रतिपादन करते हैं। जहाँ भी वे नये विषयका संकेत करते हैं वहाँ उसकी पुष्टिमें प्रमाण अवश्य देते हैं। उदाहरणार्थ मूल सप्ततिकासे ·यह सिद्ध नहीं होता कि स्त्रीवेदी जीव मरकर सम्यग्दृष्टियोंमें उत्पन्न होता है। दिगम्बर परम्परा की यह निरपवाद मान्यता है। श्वेताम्बर मूल ग्रन्थोंमें भी यह मान्यता इसी प्रकार पाई जाती है। किन्तु श्वेताम्बर टीकाकारोंने इस मतको निरपवाद नहीं माना है। उनका कहना है कि इस कथनका सप्ततिकामें बहुलताकी अपेक्षा निर्देश किया गया है। आचार्य मलय-गिरिने भी अपनी वृत्तिमें इसी पद्धतिका अनुसरण किया है। किन्तु इसकी पुष्टिमें तत्काल उन्होंने चूर्णिका सहारा ले लिया है। इसमें सप्ततिका चूर्णिका उपयोग तो किया ही गया है, किन्तु इसके अलावा सिद्धसेन, तत्त्वार्थाधिगमकी सिद्धसेनीय टीका, शतकबृहच्चूर्णि, सत्कर्म-ग्रन्थ, पञ्चसंग्रहमूलटीका, कर्मप्रकृति, आवश्यकचूर्णि, विशेषावश्यक भाष्य, पंचसंग्रह और कर्मप्रकृतिचूर्णि इन ग्रन्थोंका भी भरपूर उपयोग किया गया है। इसके अलावा बहुतसे ग्रन्थोंके उल्लेख 'उक्तं च' कहकर दिये गये हैं। तात्पर्य यह है कि मूल विषयको स्पष्ट करनेके लिये यह वृत्ति खूब सजाई गई है। आचार्य मलयगिरि आचार्य हेमचन्द्र और महाराज कुमारपालदेवके समकालीन माने जाते हैं। इनकी टीकाओंके कारण श्वेताम्बर जैन वाङ्मयके प्रसार करने में बड़ी सहायता मिली है। हमें यह प्रकाशित करते हुए प्रसन्नता होती है कि सप्ततिकाका प्रस्तुत अनुवाद आचार्य मलयगिरिकी इसी वृत्तिके आधारसे लिखा गया है।

अमितिगतिका पंचसंग्रह संस्कृतमें होनेके कारण इसे प्राकृत पंचसंग्रह कहते हैं। यह गद्य-पद्य उभयरूप है। इसमें गाथाएँ १३०० से अधिक हैं।

इसके अन्तके दो प्रकरण शतक और सप्ततिका कुछ पाठभेदके साथ श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित शतक और सप्ततिकासे मिलते जुलते हैं। तत्त्वार्थसूत्रके बाद ये ही दो ग्रन्थ ऐसे मिले हैं जिन्हें दोनों परम्पराओंने स्वीकार किया है। दिगम्बर परम्परामें प्रचलित इन दोनों ग्रन्थोंका स्वयं पंचसंग्रहकारने संग्रह किया है या पंचसंग्रहकारने इन पर केवल भाष्य लिखा है इसका निर्णय करना कठिन है। इसके लिये अधिक अनुसन्धानकी आवश्यकता है।

दोनों सप्ततिकाओंमें पाठभेद और उसका कारण—प्रस्तुत सप्ततिकामें ७२ और दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें ७१ गाथाएँ हैं। जिनमेंसे ४० से अधिक गाथाएँ एकसी हैं। १४–१५ गाथओंमें कुछ पाठभेद है। शेष गाथाएँ जुदी जुदी हैं। इसके कारण दो हैं, मान्यता भेद और वर्णन करने की शैली में भेद।

मान्यता भेदके हमें चार उदाहरण मिले हैं। यथा—

१—प्रस्तुत सप्ततिकामें निद्राद्विकका उदय क्षपकश्रेणिमें नहीं होता इस मतको प्रधानता देकर भंग बतलाये गये हैं किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें क्षपकश्रेणिमें निद्राद्विकका उदय होता है इस मतको प्रधानता देकर भंग बतलाये गये हैं।

२—प्रस्तुत सप्ततिकामें मोहनीयके उदयविकल्प और पदवृन्द दो प्रकारसे बतलाये गये हैं किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें वे एक प्रकारके ही बतलाये गये हैं।

३—प्रस्तुत सप्ततिकामें नामकर्मके १२ उदयस्थान बतलाये गये हैं। कर्मकाण्डमें भी ये ही १२ उदयस्थान निबद्ध किये गये हैं। किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें २० प्रकृतिक उदयस्थान छोड़ दिया गया है।

३—अन्य सप्ततिकाएँ

पंचसंग्रहकी सप्ततिका—प्रस्तुत सप्ततिकाके सिवा एक सप्ततिका आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर कृत पंचसंग्रहमें ग्रथित है। पंचसंग्रह एक संग्रह ग्रन्थ है। यह पाँच प्रकरणों में विभक्त है। इसके अन्तिम प्रकरणका नाम सप्ततिका है।

एक तो पंचसंग्रहके सप्ततिकाकी अधिकतर मूल गाथाएँ प्रस्तुत सप्ततिकासे मिलती-जुलती हैं, दूसरे पंचसंग्रह की रचना प्रस्तुत सप्ततिकाके बहुत काल बाद हुई है और तीसरे इसका नाम सप्ततिका होते हुए भी इसमें १५६ गाथाएँ हैं इससे ज्ञात होता है कि पंचसंग्रहकी सप्ततिकाका आधार प्रकृत सप्ततिका ही रहा है।

दिगम्बर परम्परामें प्रचलित सप्ततिका—एक अन्य सप्ततिका दिगम्बर परम्परामें प्रचलित है। यद्यपि अबतक इसकी स्वतन्त्र प्रति देखनेमें नहीं आई है तथापि प्राकृत पंचसंग्रहमें उसके अंगरूपसे यह पाई जाती है।

प्राकृत पंचसंग्रह एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें जीवसमास, प्रकृति-समुत्कीर्तन, बन्धोदयसत्त्वयुक्त पद, शतक और सप्ततिका इन पाँच ग्रन्थोंका संग्रह किया गया है। इनमेंसे अन्तके दो प्रकरणों पर भाष्य भी [illegible]। आचार्य अमितिगतिका पंचसंग्रह इसीके आधारसे लिखा गया है।

(१) पंचसंग्रहकी एक प्रति हमें हमारे मित्र पं० हीरालालजी शास्त्रीने [illegible] थी जिसके आधारसे यह परिचय लिखा गया है। पंडितजीके इस कार्यके लिये हम उनका सम्पादकीय वक्तव्यमें आभार मानना भूल गये हैं, [illegible]सलिये यहाँ उनका विशेष रूपसे स्मरण कर लेना हम अपना कर्तव्य [illegible]ते हैं। शतक और सप्ततिकाकी चूर्णि भी उन्हींसे प्राप्त हुई थी। प्रस्तावनामें बड़ा उपयोग हुआ है।

लिखा गया है। अमितिगतिने इसे विक्रम संवत् १०७३ में पूरा किया था। इसमें वही क्रम स्वीकार किया गया है जो प्राकृत पंचसंग्रहमें पाया जाता है। केवल नामकर्मके उदयस्थानोंका विवेचन करते समय प्राकृत पंचसंग्रहके क्रमको छोड़ दिया गया है। प्राकृत पंचसंग्रहमें नाम कर्मका २० प्रकृतिक उदयस्थान नहीं बतलाया है। प्रतिज्ञा करते समय इसमें भी २० प्रकृतिक उदयस्थानका निर्देश नहीं किया है। किन्तु उदयस्थानोंका व्याख्यान करते समय इसे स्वीकार कर लिया है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड और कर्मकाण्डमें भी पंचसंग्रहका पर्याप्त उपयोग किया गया है। कर्मकाण्डमें ऐसे दो मतोंका उल्लेख मिलता है जो स्पष्टतः प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकासे लिये गये जान पड़ते हैं। एक मत अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी उपशमनावाला है और दूसरे मतका सम्बन्ध कर्मकाण्डमें बतलाये गये नामकर्मके सत्त्वस्थानोंसे है। दिगम्बर परम्परामें ये दोनों मत प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकाके सिवा अन्यत्र देखनेमें नहीं आये।

यद्यपि कर्मकाण्डमें अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उपशम होता है इस बातका विधान नहीं किया है तथापि वहाँ उपशम श्रेणिमें मोहनीयकी २८ प्रकृतियोंकी भी सत्ता बतलाई है। इससे सिद्ध होता है कि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती अनन्तानुबन्धीके उपशमवाले मतसे भलीभाँति परिचित थे।

दूसरे मतका विधान करते हुए गोम्मटसारके त्रिभंगी प्रकरणमें निम्नलिखित गाथा आई है —

---

(१) 'त्रिसप्तत्यधिकेऽब्दानां सहस्रे शकविद्विषः। मसूतिकापुरे जातमिदं शास्त्रं मनोरमम् ॥' अ० पंचसं प्र०। (२) देखो अ० पंचसं० पृ० १६८। (३) देखो अ० पंचसं० पृ० १७१। (४) देखो गो० कर्म० गा० ३११।

४—प्रस्तुत सप्ततिकामें आहारक शरीर व आहारक आंगोपांग और वैक्रिय शरीर व वैक्रिय आंगोपांग इन दो युगलोंकी उद्वलना होते समय इनके बन्धन और संघातकी उद्वलना नियमसे होती है इस सिद्धान्तको स्वीकार करके नामकर्मके सत्वस्थान बतलाये गये हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्डके सत्वस्थान प्रकरणमें इसी सिद्धान्तको स्वीकार किया गया है किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें उद्वलना प्रकृतियोंमें आहारक व वैक्रिय शरीरके बन्धन और संघात सम्मिलित नहीं करके नामकर्मके सत्वस्थान बतलाये गये हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्डके त्रिभंगी प्रकरणमें इसी सिद्धान्तको स्वीकार किया गया है।

मान्यता भेदके ये चार ऐसे उदाहरण हैं जिनके कारण दोनों सप्ततिकाओंकी अनेक गाथाएँ जुदी जुदी हो गई हैं और अनेक गाथाओंमें पाठभेद भी हो गया है। फिर भी ये मान्यताभेद सम्प्रदायभेद पर आधारित नहीं हैं।

इसी प्रकार कहीं कहीं वर्णन करनेकी शैलीमें भेद होनेसे गाथाओंमें फरक पड़ गया है। यह अन्तर उपशमना प्रकरण और क्षपणाप्रकरणमें देखनेको मिलता है। प्रस्तुत सप्ततिकामें उपशमना और क्षपणाकी खास-खास प्रकृतियोंका ही निर्देश किया गया है। किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें क्रमानुसार उपशमना और क्षपणा सम्बन्धी सब प्रकृतियोंकी संख्याका निर्देश करने की व्यवस्था की गई है।

इस प्रकार यद्यपि इन दोनों सप्ततिकाओंमें भेद पड़ जाता है तो ये दोनों एक उद्गमस्थानसे निकलकर और बीच बीच में दो धाराओं विभक्त होती हुई अन्त में एकरूप हो जाती हैं।

दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकाकी प्राचीनता—पहले हम अनेक प्राकृत पंचसंग्रहका उल्लेख कर आये हैं। इसका सामान्य भी दे आये हैं। कुछ ही समय हुआ जब यह ग्रन्थ आया है। अमितिगतिका पंचसंग्रह इसीके आधारसे

लिखा गया है। अमितिगतिने इसे विक्रम संम्वत् १०७३ में पूरा किया था। इसमें वही क्रम स्वीकार किया गया है जो प्राकृत पंचसंग्रहमें पाया जाता है। केवल नामकर्मके उदयस्थानोंका विवेचन करते समय प्राकृत पंचसंग्रहके क्रमको छोड़ दिया गया है। प्राकृत पंचसंग्रहमें नाम कर्मका २० प्रकृतिक उदयस्थान नहीं बतलाया है। प्रतिज्ञा करते समय इसमें भी २० प्रकृतिक उदयस्थानका निर्देश नहीं किया है। किन्तु उदयस्थानोंका व्याख्यान करते समय इसे स्वीकार कर लिया है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड और कर्मकाण्डमें भी पंचसंग्रहका पर्याप्त उपयोग किया गया है। कर्मकाण्डमें ऐसे दो मतोंका उल्लेख मिलता है जो स्पष्टतः प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकासे लिये गये जान पड़ते हैं। एक मत अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी उपशमनावाला है और दूसरे मतका सम्बन्ध कर्मकाण्डमें बतलाये गये नामकर्मके सत्त्वस्थानोंसे है। दिगम्बर परम्परामें ये दोनों मत प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकाके सिवा अन्यत्र देखनेमें नहीं आये।

यद्यपि कर्मकाण्डमें अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उपशम होता है इस बातका विधान नहीं किया है तथापि वहाँ उपशम श्रेणिमें मोहनीयकी २८ प्रकृतियोंकी भी सत्ता बतलाई है। इससे सिद्ध होता है कि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती अनन्तानुबन्धीके उपशमवाले मतसे भलीभाँति परिचित थे।

दूसरे मतका विधान करते हुए गोम्मटसारके त्रिभंगी प्रकरणमें निम्नलिखित गाथा आई है —

---

(१) 'त्रिसप्तत्यधिकेऽब्दानां सहस्रे शकविद्विषः। मसूतिकापुरे जातमिदं शास्त्रं मनोरमम्॥' अ० पंचसं प्र०। (२) देखो अ० पंचसं० पृ० १९८। (३) देखो अ० पंचसं० पृ० १७६। (४) देखो गो० कर्म० गा० ५११।

तिदुइगिणउदी णउदी अडचउदोअहियसीदि सीदी य।
ऊणासं दठ्ठत्तरि सत्तत्तरि दस य णव सत्ता ॥ ६०६ ॥

यह गाथा प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकासे ली गई है। वहाँ इसका रूप इस प्रकार है—

तिदुइगिणउदिं णउदिं अडचउदुगहियमसीदिमसीदिं च।
उणसीदिं अट्ठत्तरि सत्तत्तरि दस य णव संता ॥ २३ ॥

इन गाथाओंमें नामकर्मके सत्त्वस्थान बतलाये गये हैं। इन सत्त्वस्थानोंका निर्देश करते समय चालू कार्मिक परम्पराके विरुद्ध एक विशेष सिद्धांत स्वीकार किया गया है। चालू कार्मिक परम्परा यह है कि बन्ध और संक्रम प्रकृतियोंमें पाँच बन्धन और पाँच संघात पाँच शरीरोंसे जुदे न गिनाये जाकर भी सत्त्वमें जुदे गिनाये जाते हैं। किन्तु यहाँ इस क्रमको छोड़कर ये सत्त्वस्थान बतलाये गये हैं।

प्राचीन ग्रन्थोंमें यह मत प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकाके सिवा अन्यत्र देखनेमें नहीं आया। मालूम होता है कि नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्तीने प्राकृत पंचसंग्रहके आधारसे ही कर्मकाण्डमें इस मत का संग्रह किया है। ये प्रमाण ऐसे हैं जिनसे हम यह जान लेते हैं कि प्राकृत पंचसंग्रहकी रचना गोम्मटसार और अमितिगतिके पंचसंग्रहके पहले हो चुकी थी। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इसकी रचना धवला टीका और श्वेताम्बर प्रचलित शतककी चूर्णिकी रचना होनेके भी पहले हो चुकी थी।

धवला चौथी पुस्तकके पृष्ठ ३१५ में वीरसेन स्वामीने 'जीवसमासए उत्तं' कह कर 'छप्पंचणवविहाणं' गाथा उद्धृत की गई है। यह गाथा पंचसंग्रहके जीवसमास प्रकरणमें १५६ नम्बर पर दर्ज है। इससे होता है कि प्राकृत पंचसंग्रहका वर्तमानरूप धवलाके निर्माणकाल पहले निश्चित हो गया था।

ऐसा ही एक प्रमाण शतक की चूर्णिमें भी मिलता है जिससे ज्ञान ता है कि शतक की चूर्णि लिखे जानेके पहले प्राकृत पंचसंग्रह लिखा चुका था।

शतक की ९३ वें गाथा की चूर्णिमें दो बार पाठान्तर का उल्लेख या है। ये पाठान्तर प्राकृत पंचसंग्रहमें निबद्ध दिगम्बर परम्पराके क्तसे लेकर उद्धृत किये गये जान पड़ते हैं।

शतककी ९३ वीं गाथा इस प्रकार है—

'आउक्कस्स पएसस्स पंच मोहस्स सत्त ठाणाणि।
सेसाणि तणुकसाओ बंधइ उक्कोसगे जोगे ॥९३॥'

प्राकृत पंचसंग्रहके शतकमें यह गाथा इस प्रकार पाई जाती है—

'आउस्स पदेसस्स छच्च मोहस्स णव दु ठाणाणि।
सेसाणि तणुकसाओ बंधइ उक्कस्सजोगेण ॥'

इन गाथाओंको देखनेसे दोनोंका मतभेद स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। तककी चूर्णिमें इसी मतभेद की चर्चा की गई है। वहाँ इस मतभेदका स प्रकार निर्देश किया है—

''अन्ने पढंति आउक्कोसस्स छ त्ति।.........अन्ने पढंति मोहस्स व उ ठाणाणि।''

शतक की चूर्णि कब लिखी गई इसके निर्णयका अब तक कोई श्चित आधार नहीं मिला है। मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई से प्रकाशित होने वाली चूर्णिसहित सित्तरी की प्रस्तावनामें पं० अमृतलालजीने क प्रमाण अवश्य उपस्थित किया है। यह प्रमाण खंभातमें स्थित ी शान्तिनाथजी की ताडपत्रीय भंडारकी एक प्रतिसे लिया गया है। समें शतककी चूर्णिका कर्ता श्रीचन्द्र महत्तर श्वेताम्बराचार्यको बतलाया

(१) कृतिराचार्य श्रीचंद्रमहत्तरशितांबरस्य शतकस्य। प्रशस्तचू...
१ ६ यतो लिखितेति ॥ ६ ॥

तिदुइगिणउदी णउदी अडचउदोअहियसीदि सीदी य।
ऊणासं दठुत्तरि सत्तत्तरि दस य णव सत्ता ॥ ६०६ ॥

यह गाथा प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकासे ली गई है। वहाँ इसका रूप इस प्रकार है—

तिदुइगिणउदिं णउदिं अडचउदुगहियमसीदिमसीदिं च।
उणसीदिं अट्ठत्तरि सत्तत्तरि दस य णव संता ॥ २२ ॥

इन गाथाओंमें नामकर्मके सत्त्वस्थान बतलाये गये हैं। इन सत्त्वस्थानोंका निर्देश करते समय चालू कार्मिक परम्पराके विरुद्ध एक विशेष सिद्धांत स्वीकार किया गया है। चालू कार्मिक परम्परा यह है कि बन्ध और संक्रम प्रकृतियोंमें पाँच बन्धन और पाँच संघात पाँच शरीरोंसे जुदे न गिनाये जाकर भी सत्त्वमें जुदे गिनाये जाते हैं। किन्तु यहाँ इस क्रमको छोड़कर ये सत्त्वस्थान बतलाये गये हैं।

प्राचीन ग्रन्थोंमें यह मत प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकाके सिवा अन्यत्र देखनेमें नहीं आया। मालूम होता है कि नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्तीने प्राकृत पंचसंग्रहके आधारसे ही कर्मकाण्डमें इस मत का संग्रह किया है। ये प्रमाण ऐसे हैं जिनसे हम यह जान लेते हैं कि प्राकृत पंचसंग्रहकी रचना गोम्मटसार और अमितिगतिके पंचसंग्रहके पहले हो चुकी थी। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं जिनसे भी ज्ञात होता है कि इसकी रचना धवला टीका और श्वेताम्बरोंमें प्रचलित शतककी चूर्णिकी रचना होनेके भी पहले हो चुकी थी।

धवला चौथी पुस्तकके पृष्ठ २१५ में वीरसेन स्वामीने 'जीवसमासए उत्तं' कह कर 'छप्पंचणवविहाणं' गाथा उद्धृत की गई है। यह गाथा प्राकृत पंचसंग्रहके जीवसमास प्रकरणमें १५६ नम्बर पर दर्ज है। इससे ज्ञात होता है कि प्राकृत पंचसंग्रहका वर्तमानरूप धवलाके निर्माणकालसे पहले निश्चित हो गया था।

दिया गया है। इतने लघुकाय ग्रन्थमें इतने विशाल और गहन
[illegible]यका विवेचन कर देना हर किसीका काम नहीं है। इससे ग्रन्थकर्ता
[illegible] ग्रन्थ दोनोंकी ही महानता सिद्ध होती है। इसकी प्रथम और
[illegible]री गाथामें विषयकी सूचना की गई है। तीसरी गाथामें आठ मूल
[illegible]ोंके संवेध भंग बतलाकर चौथी और पाँचवीं गाथामें क्रमसे इनका
[illegible]वसमास और गुणस्थानोंमें विवेचन किया गया है। छठी गाथामें
[illegible]नावरण और अन्तराय कर्मके अवान्तर भेदोंके संवेध भंग बतलाये
[illegible]। सातवींसे लेकर नौवींके पूर्वार्धतक ढाई गाथामें दर्शनावरणके उत्तर
[illegible]ोंके संवेध भंग बतलाये हैं। नौवीं गाथाके उत्तरार्धमें वेदनीय, आयु
[illegible]र गोत्र कर्मके संवेध भंगोंके कहनेकी सूचना मात्र करके मोहनीयके
[illegible]नेकी प्रतिज्ञा की गई है। दसवींसे लेकर तेईसवीं गाथातक १४
[illegible]थाओं द्वारा मोहनीयके और २४वीं गाथासे लेकर ३२वीं गाथातक
[illegible] गाथाओं द्वारा नामकर्मके बन्धादि स्थानों व संवेध भंगोंका विचार
[illegible]या गया है। आगे ३३वीं गाथासे लेकर ५२वीं गाथातक २० गाथाओं
[illegible]रा अवान्तर प्रकृतियोंके उक्त संवेध भंगोंको जीवसमासों और गुण-
[illegible]ानोंमें घटित करके बतलाया गया है। ५३वीं गाथामें गति आदि
[illegible]र्गणाओंके साथ सत् आदि आठ अनुयोग द्वारोंमें उन्हें घटित करनेकी
[illegible]चना की है। इसके आगे प्रकरण बदल जाता है। ५४वीं गाथामें
[illegible]दयसे उदीरणाके स्वामीमें कितनी विशेषता है इसका निर्देश करके
[illegible]५वीं गाथामें वे ४१ प्रकृतियाँ बतलाई हैं जिनमें विशेषता है। ५६वीं से
[illegible]कर ५९वीं तक ४ गाथाओं द्वारा किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंका
[illegible]न्ध होता है यह बतलाया गया है। ६०वीं प्रतिज्ञा गाथा है। इसमें
[illegible]ति आदि मार्गणाओंमें बन्धस्वामित्वके जान लेनेकी प्रतिज्ञा की गई है।
[illegible]१वीं गाथामें यह बतलाया है कि तीर्थंकर प्रकृति, देवायु और नरकायु
[illegible]नका सत्त्व तीन तीन गतियोंमें ही होता है। किन्तु इनके सिवा शेष
[illegible]कृतियोंका सत्त्व सब गतियोंमें पाया जाता है। ६२वीं और ६३वीं

है। ये चन्द्र महत्तर कौन हैं, इसका निर्णय करना तो कठिन है।
चित् ये पंचसंग्रहके कर्ता चन्द्रर्षि महत्तर हो सकते हैं। यदि पं
और शतककी चूर्णिके कर्ता एक ही व्यक्ति हैं तो यह अनुमान
जा सकता है कि दिगम्बर परम्पराके पंचसंग्रहका संकलन ... प्रम
के पंचसंग्रहके पहले हो गया था।

इस प्रकार प्राकृत पंचसंग्रह की प्राचीनता के अवगत हो जा
उसमें निबद्ध सप्ततिकाकी प्राचीनता तो सुतरां सिद्ध हो जाती है।

प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थमें प० हीरालाल जी सिद्धान्त शा
'प्राकृत और संस्कृत पंचसंग्रह तथा उनका आधार' शीर्षक एक
छपा है। उसमें उन्होंने प्राकृत पंचसंग्रह की सप्ततिकाका आधार
सप्ततिकाको बतलाया है। किन्तु जबतक इसकी पुष्टि में कोई नि
प्रमाण नहीं मिलता तब तक ऐसा निष्कर्ष निकालना कठिन है।
तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि किसी एक को
दूसरी सप्ततिका लिखी गई है।

४—विषय परिचय

सप्ततिकाका विषय संक्षेप में उसकी प्रथम गाथामें दिया है।
आठों मूल कर्मों व अवान्तर भेदों के बन्धस्थान, उदयस्थान और
स्थानोंका स्वतन्त्र रूपसे व जीवसमास और गुणस्थानोंके आश्रयसे वि
करके अन्तमें उपशम विधि और क्षपणा विधि बतलाई गई है।
यथासम्भव दस अवस्थाएँ होती हैं। उनमेंसे तीन मुख्य हैं—
उदय और सत्त्व। शेष अवस्थाओंका इन तीनमें अन्तर्भाव हो जा
इसलिये यदि यह कहा जाय कि कर्मोंकी विविध अवस्थाओं औ
भेदोंका इसमें सांगोपांग विवेचन किया गया है तो कोई अ
होगी। सचमुचमें ग्रन्थका जितना परिमाण है उसे देखते हुए
करनेकी शैलीकी प्रशंसा करनी ही पड़ती है। सागर का जल

र दिया गया है। इतने लघुकाय ग्रन्थमें इतने विशाल और गहन
ापयका विवेचन कर देना हर किसीका काम नहीं है। इससे ग्रन्थकर्ता
ौर ग्रन्थ दोनोंकी ही महानता सिद्ध होती है। इसकी प्रथम और
ूसरी गाथामें विषयकी सूचना की गई है। तीसरी गाथामें आठ मूल
र्मोंके संवेध भंग बतलाकर चौथी और पाँचवीं गाथामें क्रमसे उनका
ीवसमास और गुणस्थानोंमें विवेचन किया गया है। छठी गाथामें
ानावरण और अन्तराय कर्मके अवान्तर भेदोंके संवेध भंग बतलाये
। सातवींसे लेकर नौवीके पूर्वार्धतक ढाई गाथामें दर्शनावरणके उत्तर
ेदोंके संवेध भंग बतलाये हैं। नौवीं गाथाके उत्तरार्धमें वेदनीय, आयु
ौर गोत्र कर्मके संवेध भंगोंके कहनेकी सूचना मात्र करके मोहनीयके
हनेकी प्रतिज्ञा की गई है। दसवींसे लेकर तेईसवीं गाथातक १४
ाथाओं द्वारा मोहनीयके और २४वीं गाथासे लेकर ३२वीं गाथातक
गाथाओं द्वारा नामकर्मके बन्धादि स्थानों व संवेध भंगोंका विचार
िया गया है। आगे ३३वीं गाथासे लेकर ५२वीं गाथातक २० गाथाओं
ारा अवान्तर प्रकृतियोंके उक्त संवेध भंगोंको जीवसमासों और गुण-
ानोंमें घटित करके बतलाया गया है। ५३वीं गाथामें गति आदि
ार्गणाओंके साथ सत् आदि आठ अनुयोग द्वारोंमें इन्हें घटित करनेकी
ूचना की है। इसके आगे प्रकरण बदल जाता है। ५४वीं गाथामें
दयसे उदीरणाके स्वामीमें कितनी विशेषता है इसका निर्देश करके
५वीं गाथामें वे ४१ प्रकृतियाँ बतलाई हैं जिनमें विशेषता है। ५६वीं से
ेकर ५९वीं तक ४ गाथाओं द्वारा किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंका
न्ध होता है यह बतलाया गया है। ६०वीं प्रतिज्ञा गाथा है। इसमें
ति आदि मार्गणाओंमें बन्धस्वामित्वके जान लेनेकी प्रतिज्ञा की गई है।
१वीं गाथामें यह बतलाया है कि तीर्थंकर प्रकृति, देवायु और नरकायु
नका सत्त्व तीन तीन गतियोंमें ही होता है। किन्तु इनके सिवा शेष
्रकृतियोंका सत्त्व सब गतियोंमें पाया जाता है। ६२वीं और ६३वीं

रस रहित, गन्धरहित, रूपरहित, स्पर्शरहित, अव्यक्त और चेतना वाला बतलाया है। यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्रमें जीवको उपयोग लक्षणवाला [क]हा है पर इससे उक्त कथनका ही समर्थन होता है। ज्ञान और दर्शन चेतनाके भेद हैं। उपयोग शब्दसे इन्हींका बोध होता है।

ज्ञान और दर्शन यह जीवका निज स्वरूप है जो सदा काल अवस्थित [र]ता है। जीवमात्रमें यह सदा पाया जाता है। इसका कभी भी अभाव [न]हीं होता। जो तिर्यंच योनिमें भी निकृष्टतम योनिमें विद्यमान हैं [उन]के भी यह पाया जाता है और जो परम उपास्य देवत्वको प्राप्त हैं [उन]के भी यह पाया जाता है। यह सबके पाया जाता है। ऐसा कोई जीव नहीं है जिसके यह नहीं पाया जाता है।

जीवके सिवा ऐसे बहुतसे पदार्थ हैं जिनमें ज्ञान दर्शन नहीं पाया [जा]ता। वैज्ञानिकोंने ऐसे जड़ पदार्थोंकी संख्या कितनी ही क्यों न [ब]तलाई हो पर जैनदर्शनने वर्गीकरण करके ऐसे पदार्थ पाँच बतलाये [ग]ये हैं जो ज्ञानदर्शनसे रहित हैं। वैज्ञानिकोंके द्वारा बतलाये गये सब [ज]ड़ तत्त्वोंका समावेश इन पाँच तत्त्वोंमें हो जाता है। वे पाँच तत्त्व ये [हैं]—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव तत्त्वके मिला [दे]ने पर कुल छह तत्त्व होते हैं। जैन दर्शन इन्हें द्रव्य शब्दसे पुकारता है।

जीव द्रव्यका स्वरूप पहले बतलाया ही है। शेष द्रव्योंका स्वरूप [इ]स प्रकार है—

जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और रूप पाया जाता है उसे पुद्गल [क]हते हैं। जैन दर्शनमें स्पर्शादिककी मूर्त संज्ञा है इसलिये वह मूर्त

---

(१) 'अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं। जाण अलिंगग्गहणं [जी]वमणिद्दिट्ठसंठाणं।'—समयप्राभृत गाथा ४९।

(२) 'उपयोगो लक्षणम्।'

(३) 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।'—त० सू० ५-२३।

माना गया है। किन्तु शेष द्रव्योंमें ये स्पर्शादिक नहीं पाये जाते, वे अमूर्त हैं। जो गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंके गमन सहायता प्रदान करता है उसे धर्म द्रव्य कहते हैं। अधर्म द्रव्यका इससे उलटा है। यह ठहरे हुए जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें ... प्रदान करता है। इन दोनों द्रव्योंके स्वरूपका स्पष्टीकरण करनेके जल और छायाका दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे मछलीके गमन जल और पथिकके ठहरनेमें छाया सहायता प्रदान करते हैं ... स्वभाव क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका है। जो वस्तुकी पुरानी व्यय और नूतन अवस्थाके उत्पादमें सहायता प्रदान करता है उसे द्रव्य कहते हैं। और प्रत्येक पदार्थके ठहरनेके लिये जो अवकाश करता है उसे आकाश द्रव्य कहते हैं।

इनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सदा अ... माने गये हैं। निमित्तवश इनके स्वभावमें कभी भी विप... नहीं होता। किन्तु जीव और पुद्गल ये ऐसे द्रव्य हैं जो ... और विकारी दोनों प्रकारके होते हैं। जब ये अन्य द्रव्यसे सं... रहते हैं तब विकारी होते हैं और इसके अभावमें अविकारी हैं। इस हिसाबसे जीव और पुद्गलके दो-दो भेद हो जाते हैं। सं... और मुक्त ये जीवके दो भेद हैं। तथा अणु और स्कन्ध ये पु... दो भेद हैं। जीव मुक्त अवस्थामें अविकारी हैं और संसारी ... विकारी। पुद्गल अणु अवस्थामें अविकारी हैं और स्कन्ध अ... विकारी। तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गल जब तक अन्य ... संश्लिष्ट रहते हैं तब तक उस संश्लेशके कारण उनके स्वभावमें विका... हुआ करता है इसलिये वे उस समय विकारी रहते हैं और संश्ले... छूटते ही वे अविकारी हो जाते हैं।

(१) द्रव्य० गा० १८। (२) द्रव्य० गा० १६। (३) द्रव्य० गा...
(४) द्रव्य० गा० २२।

बन्धकी योग्यता—इन दोनोंका अन्य द्रव्यसे संश्लिष्ट होना
ही योग्यता पर निर्भर है। यह योग्यता जीव और पुद्गलमें
पाई जाती है अन्य में नहीं। ऐसी योग्यताका निर्देश करते
जीवमें इसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप
। पुद्गलमें इसे स्निग्ध और रूक्ष गुणरूप बतलाया है। जीव
थ्यात्व आदिके निमित्तसे अन्य द्रव्यसे बन्धको प्राप्त होता है और
गल स्निग्ध और रूक्ष गुणके निमित्तसे अन्य द्रव्यसे बन्धको प्राप्त
ा है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

जीवमें मिथ्यात्वादि रूप योग्यता संश्लेषपूर्वक ही होती है इसलिये
अनादि माना है। किन्तु पुद्गलमें स्निग्ध या रूक्षगुणरूप योग्यता
लेषके बिना भी पाई जाती है इसलिये वह अनादि और सादि
ों प्रकारकी मानी गई है।

इससे जीव और पुद्गल केवल इन दोनोंका बन्ध सिद्ध होता है।
ोंकि संश्लेष बन्धका पर्यायवाची है। किन्तु प्रकृतमें जीवका बन्ध
वक्षित है इसलिये आगे उसीकी चर्चा करते हैं—

जीवबन्धविचार—यों तो जीवकी बद्ध और मुक्त अवस्था सभी
स्तिक दर्शनोंने स्वीकार की है। बहुतसे दर्शनोंका प्रयोजन ही
श्रेयस प्राप्ति है। किन्तु जैन दर्शनने बन्ध मोक्षकी जितनी अधिक
र्चा की है उतनी अन्यत्र देखनेको नहीं मिलती। जैन आगमका
हुभाग इसकी चर्चासे भरा पड़ा है। वहाँ जीव क्यों और कबसे बँधा
, बद्ध जीवकी कैसी अवस्था होती है। बँधनेवाला दूसरा पदार्थ क्या
जिसके साथ जीवका बन्ध होता है, बन्धसे इस जीवका छुटकारा
से होता है, बन्धके कितने भेद हैं, बँधनेके बाद उस दूसरे पदार्थका
ीवके साथ कब तक सम्बन्ध बना रहता है, बँधनेवाले दूसरे पदार्थके
म्पर्कसे जीवकी विविध अवस्थाएँ कैसे होती हैं, बँधनेवाला दूसरा

(१) त० सू० ८-१। (२) स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः।'—त० सू० ५-३३।

माना गया है। किन्तु शेष द्रव्योंमें ये स्पर्शादिक नहीं पाये जाते वे अमूर्त हैं। जो गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंके गमन सहायता प्रदान करता है उसे धर्म द्रव्य कहते हैं। अधर्म द्रव्यका इससे उलटा है। यह ठहरे हुए जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें प्रदान करता है। इन दोनों द्रव्योंके स्वरूपका स्पष्टीकरण करनेके जल और छायाका दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे मछलीके गमन जल और पथिकके ठहरनेमें छाया सहायता प्रदान करते हैं स्वभाव क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका है। जो वस्तुकी पुरानी व्यय और न्यूतन अवस्थाके उत्पादमें सहायता प्रदान करता है द्रव्य कहते हैं। और प्रत्येक पदार्थके ठहरनेके लिये जो अवकाश करता है उसे आकाश द्रव्य कहते हैं।

इनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सदा अ माने गये हैं। निमित्तवश इनके स्वभावमें कभी भी वि नहीं होता। किन्तु जीव और पुद्गल ये ऐसे द्रव्य हैं जो और विकारी दोनों प्रकारके होते हैं। जब ये अन्य द्रव्यसे रहते हैं तब विकारी होते हैं और इसके अभावमें अविकारी हैं। इस हिसाबसे जीव और पुद्गलके दो-दो भेद हो जाते हैं। और मुक्त ये जीवके दो भेद हैं। तथा अणु और स्कन्ध ये पुद्ग दो भेद हैं। जीव मुक्त अवस्थामें अविकारी है और संसारी अवस्थ विकारी। पुद्गल अणु अवस्थामें अविकारी है और स्कन्ध अवस्थ विकारी। तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गल जब तक अन्य द्र संश्लिष्ट रहते हैं तब तक उस संश्लेशके कारण उनके स्वभावमें विशे हुआ करती है इसलिये वे उस समय विकारी रहते हैं और संश्ले छूटते ही वे अविकारी हो जाते हैं।

(१) द्रव्य० गा० १८। (२) द्रव्य० गा० १९। (३) द्रव्य० गा०
(४) द्रव्य० गा० २२।

'जीवके मिथ्यात्व आदि परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गलोंका कर्मरूप परिणमन होता है और पुद्गल कर्मके निमित्तसे जीव भी मिथ्यात्व आदि रूप परिणमता है।'

कर्मबन्ध और मिथ्यात्व आदि की यह परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। आगम में इसके लिये बीज और वृक्षका दृष्टान्त दिया गया है। इस परम्पराका अन्त किया जा सकता है पर प्रारम्भ नहीं। इसीसे व्यक्तिकी अपेक्षा मुक्तिको सादि और संसारको अनादि माना है।

संसारका मुख्य कारण कर्म है—संसार और मुक्त ये जीवकी दो अवस्थाएं हैं यह हम पहले ही बतला आये हैं। यों तो इन दोनों अवस्थाओंका कर्ता स्वयं जीव है। जीव ही स्वयं संसारी होता है और जीव ही मुक्त। राग द्वेष आदिरूप अशुद्ध और केवलज्ञान आदिरूप शुद्ध जितनी भी अवस्थाएं होती हैं वे सब जीवकी ही होती हैं, क्योंकि जीवके सिवा वे अन्य द्रव्यमें नहीं पाई जातीं। तथापि इनमें जो शुद्धता और अशुद्धताका भेद किया जाता है वह निमित्त की अपेक्षासे ही किया जाता है। निमित्त दो प्रकारके माने गये हैं। एक वे जो साधारण कारणरूपसे स्वीकार किये गये हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्योंका सद्भाव इसी रूपसे स्वीकार किया गया है। और दूसरे वे जो प्रत्येक कार्यके अलग-अलग होते हैं। जैसे घट पर्यायकी उत्पत्तिमें कुम्हार निमित्त है और जीवकी अशुद्धताका निमित्त कर्म है आदि। जब तक जीवके साथ कर्मका सम्बन्ध है तभी तक वे राग, द्वेष और मोह आदि भाव होते हैं कर्मके अभावमें नहीं। इसीसे संसारका मुख्य कारण कर्म कहा गया है। घर, पुत्र, स्त्री, धन आदिका नाम संसार नहीं है। वह तो जीवकी अशुद्धता है जो कर्मके सद्भावमें ही पाई जाती है इसलिये संसार और कर्मका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है ऐसा यहां जानना चाहिये। जबतक यह सम्बन्ध बना रहता

पदार्थ क्या जिस रूपमें बँधता है उसी रूपमें बना रहता है या परिस्थितिवश उसमें न्यूनाधिक परिवर्तन भी होता है आदि सभी प्रश्नोंका विस्तृत समाधान किया गया है। आगे हम उक्त प्रश्नों के आधारसे इस विषयकी चर्चा कर लेना इष्ट समझते हैं।

संसारकी अनादिता—जैसा कि हम पहले बतला आये हैं कि जीवके संसारी और मुक्त ये दो भेद हैं। जो चतुर्गति योनियोंमें परिभ्रमण करता है उसे संसारी कहते हैं इसका दूसरा नाम बद्ध भी है। और जो संसारसे मुक्त हो गया है उसे मुक्त कहते हैं। ये दोनों भेद अवस्थाकृत होते हैं। पहले जीव संसारी होता है और जब वह प्रयत्नपूर्वक संसारका अन्त कर देता है तब वही मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेके बाद जीव पुनः संसारमें नहीं आता। उस समय उसमें ऐसी योग्यता ही नहीं रहती जिससे वह पुनः कर्मबन्धको प्राप्त कर सके। कर्मबन्धका मुख्य कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग है। जब तक इनका सद्भाव पाया जाता है तभी तक कर्मबन्ध होता है। इनका अभाव होने पर जीव मुक्त हो जाता है। इससे कर्मबन्धके मुख्य कारण मिथ्यात्व आदि हैं यह ज्ञात होता है। ये मिथ्यात्व आदि जीवके वे परिणाम हैं जो बद्धदशामें होते हैं। अबद्ध जीवके इनका सद्भाव नहीं पाया जाता। इससे कर्मबन्ध और मिथ्यात्व आदि कार्यकारण भाव सिद्ध होता है। बद्ध जीवके कर्मोंका निमित्त पा मिथ्यात्व आदि होते हैं और मिथ्यात्व आदिके निमित्तसे कर्म होता है यह कार्यकारण भावकी परम्परा है। इसी भावको स्पष्ट कर हुए समयप्राभृत में लिखा है—

> 'जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
> पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८६॥

(१) 'संसारिणो मुक्ताश्च।'—त० सू० २-१०।

है तबतक यह चक्र यों ही घूमा करता है। इसी बातको विस्तारसे स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकायमें लिखा है—

'जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदीसु गदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयगहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।

'जो जीव संसारमें स्थित है उसके राग द्वेषरूप परिणाम होते हैं। परिणामोंसे कर्म बँधते हैं। कर्मोंसे गतियोंमें जन्म लेना पड़ता है। इससे शरीर होता है। शरीरके प्राप्त होनेसे इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है। विषय ग्रहणसे राग और द्वेषरूप परिणाम होते हैं। जो जीव संसार-चक्रमें पड़ा है उसकी ऐसी अवस्था होती है।'

इस प्रकार संसारका मुख्य कारण कर्म है यह ज्ञात होता है।

कर्म का स्वरूप—कर्मका मुख्य अर्थ क्रिया है। क्रिया अनेक प्रकारकी होती है। हँसना, खेलना, कूदना, उठना, बैठना, रोना, गाना, जाना, आना आदि ये सब क्रियाएँ हैं। क्रिया जड़ और चेतन दोनोंमें पाई जाती है। कर्मका सम्बन्ध आत्मासे है अतः केवल जड़की क्रिया यहाँ विवक्षित नहीं है। और शुद्ध जीव निष्क्रिय है। वह सदा ही आकाशके समान निर्लेप और भित्तीमें उकीरे गये चित्रके समान निष्कम्प रहता है। यद्यपि जैन दर्शन में जड़ चेतन सभी पदार्थोंको उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वभाववाला माना गया है। यह स्वभाव क्या शुद्ध और क्या अशुद्ध सब पदार्थोंका पाया जाता है। किन्तु यहाँ क्रियाका अर्थ परिस्पन्द लिया है। परिस्पन्दात्मक क्रिया सब पदार्थोंकी नहीं होती। वह पुद्गल और संसारी जीवके ही पाई जाती है। इसलिये प्रकृत

कर्मका अर्थ संसारी जीवकी क्रिया लिया गया है। आशय यह है कि संसारी जीवके प्रति समय परिस्पन्दात्मक जो भी क्रिया होती है वह कर्म कहलाता है।

यद्यपि कर्मका मुख्य अर्थ यही है तथापि इसके निमित्तसे जो पुद्गल परमाणु ज्ञानावरणादि भावको प्राप्त होते हैं वे भी कर्म कहलाते हैं। अमृतचन्द्र सूरिने प्रवचनसारकी टीकामें इसी भावको दिखलाते हुए लिखा है—

'क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म।' पृ० १६५।

जैनदर्शनमें कर्मके मुख्यतया दो भेद किये गये हैं द्रव्यकर्म और भावकर्म। ये भेद जातिकी अपेक्षासे नहीं किये जाकर कार्यकारणभावकी अपेक्षासे किये गये हैं। अनादिकालसे जीव बद्ध और अशुद्ध इन्हींके कारण हो रहा है। जो पुद्गल परमाणु आत्मासे सम्बद्ध होकर ज्ञानादि भावोंका घात करते हैं और आत्मामें ऐसी योग्यता लानेमें निमित्त होते हैं जिससे वह विविध शरीर आदिको धारण कर सके इन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं। तथा आत्माके जिन भावोंसे इन द्रव्य कर्मोंका इनसे सम्बन्ध होता है वे भावकर्म कहलाते हैं। द्रव्यकर्मका चर्चा करते हुए अकलंक देवने राजवार्तिकमें लिखा है—

'यथा भाजनविशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामः तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात् कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः।'

'जैसे पात्र विशेषमें डाले गये अनेक रसवाले बीज, पुष्प और फलोंका मदिरारूपसे परिणमन होता है इसी प्रकार आत्मामें स्थित पुद्गलोंका भी योग तथा कषायके कारण कर्मरूपसे परिणमन होता है।'

योग और कषायके बिना पुद्गल परमाणु कर्मभावको नहीं

है तबतक यह चक्र यों ही घूमा करता है। इसी बातको विस्तारसे स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकायमें लिखा है—

'जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदीसु गदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयगहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।

'जो जीव संसारमें स्थित है उसके राग द्वेषरूप परिणाम होते हैं। परिणामोंसे कर्म बँधते हैं। कर्मोंसे गतियोंमें जन्म लेना पड़ता है। इससे शरीर होता है। शरीरके प्राप्त होनेसे इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है। विषय ग्रहणसे राग और द्वेषरूप परिणाम होते हैं। जो जीव संसार-चक्रमें पड़ा है उसकी ऐसी अवस्था होती है।'

इस प्रकार संसारका मुख्य कारण कर्म है यह ज्ञात होता है।

कर्म का स्वरूप—कर्मका मुख्य अर्थ क्रिया है। क्रिया अनेक प्रकारकी होती है। हँसना, खेलना, कूदना, उठना, बैठना, रोना, गाना, जाना, आना आदि ये सब क्रियाएँ हैं। क्रिया जड़ और चेतन दोनोंमें पाई जाती है। कर्मका सम्बन्ध आत्मासे है अतः केवल जड़की क्रिया यहाँ विवक्षित नहीं है। और शुद्ध जीव निष्क्रिय है। वह सदा ही आकाशके समान निर्लेप और भित्तीमें उकीरे गये चित्रके समान निष्कम्प रहता है। यद्यपि जैन दर्शन में जड़ चेतन सभी पदार्थोंको उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वभाववाला माना गया है। यह स्वभाव क्या शुद्ध और क्या अशुद्ध सब पदार्थोंका पाया जाता है। किन्तु यहाँ क्रियाका अर्थ परिस्पद लिया है। परिस्पन्दात्मक क्रिया सब पदार्थोंकी नहीं होती। वह पुद्गल और संसारी जीवके ही पाई जाती है। इसलिये

कौन बन्ध किस हेतुसे होता है इनका विचार किया जाता है तब वे दो प्राप्त होते हैं।

ये कर्मबन्धके सामान्य कारण हैं विशेष कारण जुदे-जुदे हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें विशेष कारणोंका निर्देश आस्रवके स्थानमें किया गया है।

कर्मके भेद—जैनदर्शन प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त शक्तियाँ मानता है। जीव भी एक द्रव्य है अतः उसमें भी अनन्त शक्तियाँ हैं। जब यह संसार दशामें रहता है तब इसकी वे शक्तियाँ कर्मसे आवृत रहती हैं। फलतः कर्मके अनन्त भेद हो जाते हैं। किन्तु जीवकी मुख्य शक्तियोंकी अपेक्षा कर्मके आठ भेद किये गये हैं। यथा, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

ज्ञानावरण—जीवकी ज्ञान-शक्तिको आवरण करनेवाले कर्मकी ज्ञानावरण संज्ञा है। इसके पाँच भेद हैं।

दर्शनावरण—जीवकी दर्शन शक्तिको आवरण करनेवाले कर्मकी दर्शनावरण संज्ञा है। इसके नौ भेद हैं।

वेदनीय—सुख और दुःखका वेदन करानेवाले कर्मकी वेदनीय संज्ञा है। इसके दो भेद हैं।

मोहनीय—राग, द्वेष और मोहको पैदा करनेवाले कर्मकी मोहनीय संज्ञा है। इसके दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ये दो भेद हैं। दर्शनमोहनीयके तीन और चारित्रमोहनीयके पच्चीस भेद हैं।

आयु—नरकादि गतियोंमें अवस्थानके कारणभूत कर्मकी आयु-संज्ञा है। इसके चार भेद हैं।

नाम—नाना प्रकारके शरीर, वचन और मन तथा जीवकी विविध अवस्थाओंके कारणभूत कर्मकी नाम संज्ञा है। इसके तेरानवे भेद हैं।

गोत्र—नीच, उच्च सन्तान (परम्परा) के कारणभूत कर्मकी गोत्र संज्ञा है। इसके दो भेद हैं। जैनधर्म जाति या आजीवका कृत नीच उच्च भेद

कौन बन्ध किस हेतुसे होता है इसका विचार किया जाता है तब वे दो प्राप्त होते हैं।

ये कर्मबन्धके सामान्य कारण हैं विशेष कारण जुदे-जुदे हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें विशेष कारणोंका निर्देश आस्रवके स्थानमें किया गया है।

कर्मके भेद—जैनदर्शन प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त शक्तियाँ मानता है। जीव भी एक द्रव्य है अतः उसमें भी अनन्त शक्तियाँ हैं। जब वह संसार दशामें रहता है तब इसकी ये शक्तियाँ कर्मसे आवृत रहती हैं। फलतः कर्मके अनन्त भेद हो जाते हैं। किन्तु जीवकी मुख्य शक्तियोंकी अपेक्षा कर्मके आठ भेद किये गये हैं। यथा, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

ज्ञानावरण—जीवकी ज्ञान-शक्तिको आवरण करनेवाले कर्मकी ज्ञानावरण संज्ञा है। इसके पाँच भेद हैं।

दर्शनावरण—जीवकी दर्शन शक्तिको आवरण करनेवाले कर्मकी दर्शनावरण संज्ञा है। इसके नौ भेद हैं।

वेदनीय—सुख और दुःखका वेदन करानेवाले कर्मकी वेदनीय संज्ञा है। इसके दो भेद हैं।

मोहनीय—राग, द्वेष और मोहको पैदा करनेवाले कर्मकी मोहनीय संज्ञा है। इसके दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ये दो भेद हैं। दर्शनमोहनीयके तीन और चारित्रमोहनीयके पच्चीस भेद हैं।

आयु—नरकादि गतियोंमें अवस्थानके कारणभूत कर्मकी आयु-संज्ञा है। इसके चार भेद हैं।

नाम—नाना प्रकारके शरीर, वचन और मन तथा जीवकी विविध अवस्थाओंके कारणभूत कर्मकी नाम संज्ञा है। इसके तेरानवे भेद हैं।

गोत्र—नीच, उच्च सन्तान (परम्परा) के कारणभूत कर्मकी गोत्र संज्ञा है। इसके दो भेद हैं। जैनधर्म जाति या आजीवका कृत नीच उच्च भेद

तो वह अपना काम करता ही नहीं। किन्तु जब तक वह अपना काम नहीं करता है तब तक उसकी वह अवस्था सत्ता नामसे अभिहित होती है। उत्कर्षण आदिके निमित्तसे होनेवाले अपवादको छोड़कर साधारणतः प्रत्येक कर्मका नियम है कि वह बंधनेके बाद कबसे काम करने लगता है। बीचमें जितने काल तक काम नहीं करता है उसकी आबाधाकाल संज्ञा है। आबाधाकालके बाद प्रति समय एक एक निषेक काम करता है। यह क्रम विवक्षित कर्मके पूरे होने तक चालू रहता है। आगममें प्रथम निषेककी आबाधा दी गई है। शेष निषेकोंकी आबाधा क्रमसे एक एक समय बढ़ती जाती है। इस हिसाबसे अन्तिम निषेककी आबाधा एक समय कम कर्मस्थिति प्रमाण होती है। आयुकर्मके प्रथम निषेककी आबाधाका क्रम जुदा है। शेष क्रम समान है।

उत्कर्षण—स्थिति और अनुभागके बढ़ानेकी उत्कर्षण संज्ञा है। यह क्रिया बन्धके समय ही सम्भव है। अर्थात् जिस कर्मका स्थिति और अनुभाग बढ़ाया जाता है उसका पुनः बन्ध होने पर पिछले बंधे हुए कर्मका नवीन बन्धके समय स्थिति अनुभाग बढ़ सकता है। यह साधारण नियम है। अपवाद भी इसके अनेक हैं।

अपकर्षण—स्थिति और अनुभागके घटानेकी अपकर्षण संज्ञा है। कुछ अपवादोंको छोड़कर किसी भी कर्मकी स्थिति और अनुभाग कम किया जा सकता है। इतनी विशेषता है कि शुभ परिणामोंसे अशुभ कर्मोंका स्थिति और अनुभाग कम होता है। तथा अशुभ परिणामोंसे शुभ कर्मोंका स्थिति और अनुभाग कम होता है।

संक्रमण—एक कर्म प्रकृतिके परमाणुओंका सजातीय दूसरी प्रकृतिरूप हो जाना संक्रमण है यथा असाताके परमाणुओंका सातारूप हो जाना। मूल कर्मोंका परस्पर संक्रमण नहीं होता। यथा ज्ञानावरण दर्शनावरण नहीं हो सकता। आयुकर्मके अवान्तर भेदोंका परस्पर

इनके कार्य भी जुदे जुदे हो जाते हैं। कभी नियत कालके पहले क
अपना कार्य करता है तो कभी नियत कालसे बहुत समयबाद उस
फल देखा जाता है। जिस कर्मका जैसा नाम, स्थिति और फलद
शक्ति है उसीके अनुसार उसका फल मिलता है यह साधारण निय
है। अतवाद इसके अनेक हैं। कुछ कर्म ऐसे अवश्य हैं जिनकी प्रकृ
नहीं बदलती। उदाहरणार्थ चार आयुकर्म। आयु कर्मोंमें जिस आयु
बन्ध होता है उसीरूपमें उसे भोगना पड़ता है। उसके स्थिति अ
भागमें उलट फेर भले ही हो जाय पर भोग उनका अपनी अपनी प्रकृ
के अनुसार ही होता है। यह कभी सम्भव नहीं कि नरकायुको ति
चायुरूपसे भोगा जा सके या तिर्यंचायुको नरकायुरूपसे भोगा जा सके
शेष कर्मोंके विषयमें ऐसा कोई नियम नहीं है। मोटा नियम इत
अवश्य है कि मूल कर्ममें बदल नहीं होता। इस नियमके अनुस
दर्शनमोहनीय और चरित्रमोहनीय ये मूल कर्म मान लिये गये है
कर्मकी ये विविध अवस्थाएँ हैं जो बन्ध समयसे लेकर उनकी निर्ज
होने तक यथासम्भव होती हैं। इनके नाम ये हैं—

बन्ध, सत्त्व, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदय, उदीरणा, उ
शान्त, निधत्ति और निकाचना।

बन्ध—कर्मवर्गणाओंका आत्मप्रदेशोंसे सम्बद्ध होना बन्ध है
इसके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार भेद हैं। जिस कर्म
जो स्वभाव है वह उसकी प्रकृति है। यथा ज्ञानावरणका स्वभाव ज्ञान
आवृत करना है। स्थिति कालमर्यादाको कहते हैं। किस कर्म
जघन्य और उत्कृष्ट कितनी स्थिति पड़ती है इस सम्बन्धमें अलग अल
नियम हैं। अनुभाग फलदान शक्तिको कहते हैं। प्रत्येक कर्ममें न्यून
धिक फल देनेकी योग्यता होती है। प्रति समय बंधनेवाले कर्म
परमाणुओं की परिगणना प्रदेशबन्धमें की जाती है।

सत्त्व—बंधनेके बाद कर्म आत्मासे सम्बद्ध रहता है। तत्का

तो वह अपना काम करता ही नहीं। किन्तु जब तक वह अपना काम नहीं करता है तब तक उसकी वह अवस्था सत्ता नामसे अभिहित होती है। उत्कर्षण आदिके निमित्तसे होनेवाले अपवादको छोड़कर साधारणतः प्रत्येक कर्मका नियम है कि वह बंधनेके बाद कबसे काम करने लगता है। बीचमें जितने काल तक काम नहीं करता है उसकी आबाधाकाल संज्ञा है। आबाधाकालके बाद प्रति समय एक एक निषेक काम करता है। यह क्रम विवक्षित कर्मके पूरे होने तक चालू रहता है। आगममें प्रथम निषेककी आबाधा दी गई है। शेष निषेकोंकी आबाधा क्रमसे एक एक समय बढ़ती जाती है। इस हिसाबसे अन्तिम निषेककी आबाधा एक समय कम कर्मस्थिति प्रमाण होती है। आयुकर्मके प्रथम निषेककी आबाधाका क्रम जुदा है। शेष क्रम समान है।

उत्कर्षण—स्थिति और अनुभागके बढ़ानेकी उत्कर्षण संज्ञा है। यह क्रिया बन्धके समय ही सम्भव है। अर्थात् जिस कर्मका स्थिति और अनुभाग बढ़ाया जाता है उसका पुनः बन्ध होने पर पिछले बंधे हुए कर्मका नवीन बन्धके समय स्थिति अनुभाग बढ़ सकता है। यह साधारण नियम है। अपवाद भी इसके अनेक हैं।

अपकर्षण—स्थिति और अनुभागके घटानेकी अपकर्षण संज्ञा है। कुछ अपवादोंको छोड़कर किसी भी कर्मकी स्थिति और अनुभाग कम किया जा सकता है। इतनी विशेषता है कि शुभ परिणामोंसे अशुभ कर्मोंका स्थिति और अनुभाग कम होता है। तथा अशुभ परिणामोंसे शुभ कर्मोंका स्थिति और अनुभाग कम होता है।

संक्रमण—एक कर्म प्रकृतिके परमाणुओंका सजातीय दूसरी प्रकृतिरूप हो जाना संक्रमण है यथा असाताके परमाणुओंका सातारूप हो जाना। मूल कर्मोंका परस्पर संक्रमण नहीं होता। यथा ज्ञानावरण दर्शनावरण नहीं हो सकता। आयुकर्मके अवान्तर भेदोंका

कर्मका उत्कर्पण और अपकर्पण हो सकता है किन्तु इसका उदीरणा और संक्रम नहीं होता।

निकाचना—कर्मकी वह अवस्था जो उत्कर्पण, अपकर्पण, उदीरणा और संक्रम इन चारके अयोग्य होती है निकाचना कहलाती। इसका स्वमुखेन या परमुखेन उदय होता है। यदि अनुदय प्राप्त होता है तो परमुखेन उदय होता है नहीं तो स्वमुखेन ही उदय होता है। उपशान्त और निधत्ति अवस्था को प्राप्त कर्म का उदयके विषय में यही नियम जानना चाहिये।

यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि सातिशय परिणामों से कर्म की उपशान्त, निधत्ति और निकाचनारूप अवस्थाएँ बदली भी जा सकती हैं। ये कर्म की विविध अवस्थाएं हैं जो यथायोग्य पाई जाती हैं।

कर्म की कार्य मर्यादा—कर्मका मोटा काम जीवको संसारमें रोक रखना है। परावर्तन संसारका दूसरा नाम है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे वह पांच प्रकारका है। कर्मके कारण ही जीव इन पाँच प्रकारके परावर्तनोंमें घूमता फिरता है। चौरासी लाख योनियां और उनमें रहते हुए जीवकी जो विविध अवस्थाएँ होती हैं उनका मुख्य कारण कर्म है। स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमांसामें कर्मके कार्यका निर्देश करते हुए लिखते हैं—

'कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः।

'जीवकी काम क्रोध आदि रूप विविध अवस्थाएँ अपने अपने कर्मके अनुरूप होती हैं।'

बात यह है कि मुक्त दशामें जीवकी प्रति समय जो स्वाभाविक परिणति होती है उसका अलग अलग निमित्त कारण नहीं है, नहीं तो इसमें एकरूपता नहीं बन सकती। किन्तु संसारदशामें वह परिणति प्रति समय जुदी जुदी होती रहती है इसलिये उसके जुदे जुदे

ऐसा ही बतलाया है। वहाँ लिखा है कि पापी जीव समुद्रमें प्रवे[illegible] करनेपर भी रत्न नहीं पाता किन्तु पुण्यात्मा जीव तट पर बैठे ही उ[illegible] प्राप्त कर लेता है। यथा—

जलधिगतोऽपि न कश्चित्कश्चित्तटगोऽपि रत्नमुपयाति।

किन्तु विचार करने पर उक्त कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। खुला[illegible] इस प्रकार है—

कर्मके दो भेद हैं जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी। जो जीव[illegible] विविध अवस्था और परिणामोंके होनेमें निमित्त होते हैं वे जीवविपा[illegible] कर्म कहलाते हैं। और जिनसे विविध प्रकारके शरीर, वचन, मन औ[illegible] श्वासोच्छ्वास की प्राप्ति होती है वे पुद्गलविपाकी कर्म कहलाते हैं। इन दोनों प्रकारके कर्मों में ऐसा एक भी कर्म नहीं बतलाया है जिस[illegible] काम बाह्य सामग्रीका प्राप्त कराना हो। सातावेदनीय और असाता[illegible] वेदनीय ये स्वयं जीवविपाकी हैं। राजवार्तिकमें इनके कार्यका निर्दे[illegible] करते हुए लिखा है—

'यस्योदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम्। यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम्।' पृष्ठ ३०४।

इन वार्तिकोंकी व्याख्या करते हुए वहाँ लिखा है—

'अनेक प्रकारकी देवादि गतियोंमें जिस कर्मके उदयसे जीवोंके प्रा[illegible] [illegible] द्रव्यके सम्बन्धकी अपेक्षा शारीरिक और मानसिक नाना प्रकार[illegible] [illegible] रूप परिणाम होता है वह साता वेदनीय है। तथा नाना प्र[illegible] नरकादि गतियों में जिस कर्मके फलस्वरूप जन्म, जरा, मरण, इ[illegible] वियोग, अनिष्टसंयोग, व्याधि, वध और बन्धनादिसे उत्पन्न दु[illegible] विविध प्रकार का मानसिक और कायिक दुःसह दुःख होता है [illegible] असाता वेदनीय है।'

सर्वार्थसिद्धिमें भी साता वेदनीय और असाता वेदनीयके स्वरू[illegible] किया है। उससे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है।

श्वेताम्बर कार्मिक ग्रन्थोंमें भी इन कर्मोंका यही अर्थ किया है।
...की हालतमें इन कर्मोंको अनुकूल व प्रतिकूल बाह्य सामग्रीके संयोग वियोगमें निमित्त मानना उचित नहीं है। वास्तवमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति अपने अपने कारणोंसे होती है। इसकी प्राप्तिका कारण कोई कर्म नहीं है।

ऊपर मोक्षमार्ग प्रकाशकके जिस मतकी चर्चा की इसके सिवा दो मत और मिलते हैं। जिनमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके कारणोंका निर्देश किया गया है। इनमेंसे पहला मत तो पूर्वोक्त मतसे ही मिलता जुलता है। दूसरा मत कुछ भिन्न है। आगे इन दोनोंके आधारसे चर्चा कर लेना इष्ट है—

(१) षट्खण्डागम चूलिका अनुयोगद्वारमें प्रकृतियोंका नाम निर्देश करते हुए सूत्र १८ की टीकामें वीरसेन स्वामीने इन कर्मोंकी विस्तृत चर्चा की है। वहाँ सर्वप्रथम उन्होंने साता और असाता वेदनीयका वही स्वरूप दिया है जो सर्वार्थसिद्धि आदिमें बतलाया गया है। किन्तु शंका समाधान के प्रसंगसे उन्होंने सातावेदनीयको जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी उभयरूप सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है।

इस प्रकरणके वाचनेसे ज्ञात होता है कि वीरसेन स्वामीका यह मत था कि सातावेदनीय और असाता वेदनीयका काम सुख दुखको उत्पन्न करना तथा इनकी सामग्रीको जुटाना दोनों है।

(२) तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र ४ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके कारणोंका निर्देश करते हुए लाभादिको उसका कारण बतलाया है। किन्तु सिद्धोंमें अतिप्रसंग देने पर लाभादिके साथ शरीर नामकर्म आदिकी अपेक्षा और लगा दी है।

ये दो ऐसे मत हैं जिनमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिका क्या कारण है इसका स्पष्ट निर्देश किया है। आधुनिक विद्वान भी इनके आधारसे दोनों प्रकारके उत्तर देते हुए पाये जाते हैं। कोई तो वेदनीयको बा...

दिया है इसलिये वहाँ इस प्रकारका भेद नहीं दिखाई देता है फिर वहाँ पुण्य और पाप तो है ही। सचमुच में पुण्य और पाप तो वह जो इन बाह्य व्यवस्थाओंके परे हैं और वह है आध्यात्मिक। कर्मशास्त्र ऐसे ही पुण्य पापका निर्देश करता है।

शंका—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य पापका फल नहीं है तो सिद्ध जीवों को इसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—बाह्य सामग्रीका सद्भाव जहाँ है वहीं उसकी प्राप्ति सम्भव है। यों तो इसकी प्राप्ति जड़ चेतन दोनोंको होती है। क्योंकि तिजोड़ीमें भी धन रखा रहता है इसलिये उसे भी धनकी प्राप्ति कही जा सकती है। किन्तु जड़के रागादि भाव नहीं होता और चेतनके होता है इसलिये वही उसमें ममकार और अहंकार भाव करता है।

शंका—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य पापका फल नहीं है तो न सही पर सरोगता और नीरोगता यह तो पाप पुण्यका फल मानना ही पड़ता है ?

समाधान—सरोगता और नीरोगता यह पाप पुण्यके उदयके निमित्त भले ही हो जाय पर स्वयं यह पाप पुण्यका फल नहीं है। जिस प्रकार बाह्य सामग्री अपने अपने कारणोंसे प्राप्त होती है उसी प्रकार सरोगता और नीरोगता भी अपने अपने कारणोंसे प्राप्त होती है। इसे पाप पुण्यका फल मानना किसी भी हालतमें उचित नहीं है।

शंका—सरोगता और नीरोगताके क्या कारण हैं ?

समाधान—अस्वास्थ्यकर आहार, विहार व संगति करना आदि सरोगताके कारण हैं और स्वास्थ्यवर्धक आहार, विहार व संगति आदि नीरोगताके कारण हैं।

इस प्रकार कर्मकी कार्यमर्यादाका विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म बाह्य सम्पत्तिके संयोग वियोगका कारण नहीं है। उसकी तो मर्यादा उतनी ही है जिसका निर्देश हम पहले कर आये

हैं। हाँ जीवके विविध भाव कर्मके निमित्तसे होते हैं और वे कहीं कहीं बाह्य सम्पत्तिके अर्जन आदिमें कारण पड़ते हैं इतनी बात अवश्य है।

नैयायिक दर्शन—यद्यपि स्थिति ऐसी है तो भी नैयायिक कार्य-मात्रके प्रति कर्मको कारण मानते हैं। वे कर्मको जीवनिष्ठ मानते हैं। उनका मत है कि चेतनगत जितनी विषमताएँ हैं उनका कारण कर्म तो है ही। साथ ही वह अचेतनगत सब प्रकारकी विषमताओंका और उनके न्यूनाधिक संयोगोंका भी जनक है। उनके मतसे जगतमें द्व्यणुक आदि जितने भी कार्य होते हैं वे किसी न किसी के उपभोगके योग्य होनेसे उनका कर्ता कर्म ही है।

नैयायिकोंने तीन प्रकारके कारण माने हैं—समवायीकारण, असमवायीकारण और निमित्तकारण। जिस द्रव्यमें कार्य पैदा होता है वह द्रव्य उस कार्यके प्रति समवायीकारण है। संयोग असमवायीकारण है। तथा अन्य सहकारी सामग्री निमित्तकारण है। इसमें भी काल, दिशा, ईश्वर और कर्म ये कार्यमात्रके प्रति निमित्तकारण हैं। इनकी सहायता के बिना किसी भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

ईश्वर और कर्म कार्यमात्रके प्रति साधारण कारण क्यों है इसका खुलासा उन्होंने इस प्रकार किया है कि जितने कार्य होते हैं वे सब चेतनाधिष्ठित ही होते हैं इसलिये ईश्वर सबका साधारण कारण है।

इस पर यह प्रश्न होता है कि जब सबका कर्ता ईश्वर है तब फिर उसने सबको एक-सा क्यों नहीं बनाया। वह सबको एकसे सुख, एकसे भोग और एक-सी बुद्धि दे सकता था। स्वर्ग मोक्षका अधिकारी भी सबको एकसा बना सकता था। दुखी, दरिद्र और निकृष्ट योनिवाले प्राणियोंकी उसे रचना ही नहीं करनी थी। उसने ऐसा क्यों नहीं किया? जगतमें तो विषमता ही विषमता दिखलाई देती है। इसका अनुभव सभीको होता है। क्या जीवधारी और क्या जड़ जितने भी पदार्थ हैं उन सबकी आकृति, स्वभाव और जाति जुदी-जुदी हैं। एकका

मेल दूसरेसे नहीं खाता। मनुष्यको ही लीजिए। एक मनुष्यसे दू
मनुष्यमें बड़ा अन्तर है। एक सुखी है तो दूसरा दुखी। एकके प
सम्पत्तिका विपुल भण्डार है तो दूसरा दाने-दाने को भटकता फि
है। एक सातिशय बुद्धिवाला है तो दूसरा निरा मूर्ख। म...
तो सर्वत्र ही बोलबाला है। बड़ी मछली छोटी मछलीको निगल जा
चाहती है। यह भेद यहीं तक सीमित नहीं है, धर्म और ...
भी इस भेदने अड्डा जमा लिया है। यदि ईश्वर ने मनुष्यको बना
है और वह मन्दिरोंमें बैठा है तो उस तक सबको क्यों नहीं
दिया जाता है। क्या उन दलालोंका, जो दूसरेको मन्दिरमें
रोकते हैं, उसीने निर्माण किया है? ऐसा क्यों है? जब ईश्वरने
इस जगतको बनाया है और वह करुणामय तथा सर्व-शक्तिमान है
फिर उसने जगतकी ऐसी विषम रचना क्यों की? यह एक ऐसा प्रश्
है जिसका उत्तर नैयायिकोंने कर्मको स्वीकार करके दिया है। वे जग
की इस विषमताका कारण कर्म मानते हैं। उनका कहना है कि ईश्व
जगतका कर्ता है तो सही पर उसने इसकी रचना प्राणियोंके कर्मानुसा
की है। इसमें उसका रत्ती भर भी दोष नहीं है। जीव जैसा क
करता है उसीके अनुसार उसे योनि और भोग मिलते हैं। यदि अच्
कर्म करता है तो अच्छी योनि और अच्छे भोग मिलते हैं और बु
कर्म करता है तो बुरी योनि और बुरे भोग मिलते हैं। इसीसे कवि
तुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसमें कहा है—

करम प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा॥

ईश्वरवादको मानकर जो प्रश्न उठ खड़ा होता है, तुलसीदासजीने
प्रश्नका इस छन्दके उत्तरार्ध द्वारा समर्थन करनेका प्रयत्न किया है।
नैयायिक जन्यमात्रके प्रति कर्मको साधारण कारण मानते हैं:

उनके मतमें जीवात्मा व्यापक है इसलिये जहाँ भी उसके उपभोगके योग्य कार्यकी सृष्टि होती है वहाँ उसके कर्मका संयोग होकर ही वैसा होता है। अमेरिकामें बननेवाली जिन मोटरों तथा अन्य पदार्थोंका भारतीयों द्वारा उपभोग होता है वे उनके उपभोक्ताओंके कर्मानुसार ही निर्मित होते हैं। इसीसे वे अपने उपभोक्ताओंके पास खिंचे चले आते हैं। उपभोग योग्य वस्तुओंका इसी हिसाबसे विभागीकरण होता है। जिसके पास विपुल सम्पत्ति है वह उसके कर्मानुसार है और जो निर्धन है वह भी अपने कर्मानुसार है। कर्म बटवारेमें कभी भी पक्षपात नहीं होने देता। गरीब और अमीरका भेद तथा स्वामी और सेवकका भेद मानवकृत नहीं है। अपने-अपने कर्मानुसार ही ये भेद होते हैं।

जो जन्मसे ब्राह्मण है वह ब्राह्मण ही बना रहता है और जो शूद्र है वह शूद्र ही बना रहता है। उनके कर्म ही ऐसे हैं जिससे जो जाति प्राप्त होती है जीवन भर वही बनी रहती है।

कर्मवादके स्वीकार करनेमें यह नैयायिकोंकी युक्ति है। वैशेषिकों-की युक्ति भी इससे मिलती जुलती है। वे भी नैयायिकोंके समान चेतन और अचेतन गत सब प्रकारकी विषमताका साधारण कारण कर्म मानते हैं। यद्यपि इन्होंने प्रारम्भमें ईश्वरवाद पर जोर नहीं दिया। पर परवर्ती कालमें इन्होंने भी इसका अस्तित्व स्वीकार कर लिया है।

जैन दर्शनका मन्तव्य—किन्तु जैनदर्शनमें बतलाये गये कर्मवादसे इस मतका समर्थन नहीं होता। वहाँ कर्मवादकी प्राणप्रतिष्ठा मुख्यतया आध्यात्मिक आधारों पर की गई है।

ईश्वरको तो जैनदर्शन मानता ही नहीं। वह निमित्तको स्वीकार करके भी कार्यके आध्यात्मिक विश्लेषण पर अधिक जोर देता है। नैयायिक वैशेषिकोंने कार्य कारण भावकी जो रेखा खींची है वह उसे मान्य नहीं। उसका मत है कि पर्यायक्रमसे उत्पन्न होना, नष्ट होना और ध्रुव

रहना यह प्रत्येक वस्तुका स्वभाव है। जितने प्रकारके पदार्थ हैं उन सबमें
यह क्रम चालू है। किसी वस्तुमें भी इसका व्यतिक्रम नहीं देखा जाता।
अनादि कालसे यह क्रम चालू है और अनन्त कालतक चालू रहेगा
इसके मतसे जिस कालमें वस्तुकी जैसी योग्यता होती है उसीके अनुसार
कार्य होता है। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव जिस कार्यके अनु-
होता है वह उसका निमित्त कहा जाता है। कार्य अपने उपा-
होता है किन्तु कार्यनिष्पत्तिके समय अन्य वस्तुकी अनुकूलता ही निमि-
त्तताकी प्रयोजक है। निमित्त उपकारी कहा जा सकता है कर्ता नहीं।
इसलिये ईश्वरको स्वीकार करके कार्यमात्रके प्रति उसको निमित्त मानना
उचित नहीं है। इसीसे जैन दर्शनने जगत्को अकृत्रिम और
बतलाया है। उक्त कारणसे वह यावत् कार्योंमें बुद्धिमानकी आवश्यकता
स्वीकार नहीं करता। घटादि कार्योंमें यदि बुद्धिमान् देखा भी
है तो इससे सर्वत्र बुद्धिमानको निमित्त मानना उचित नहीं है ऐसा
इसका मत है।

यद्यपि जैन दर्शन कर्मको मानता है तो भी वह यावत् कार्योंके प्रति
उसे निमित्त नहीं मानता। वह जीवकी विविध अवस्थाएँ शरीर, इन्द्रिय
श्वासोच्छ्वास वचन और मन इन्हींके प्रति कर्मको निमित्त कारण
मानता है। उसके मतसे अन्य कार्य अपने अपने कारणोंसे होते हैं
कर्म उनका कारण नहीं है। उदाहरणार्थ पुत्रका प्राप्त होना, उसका म
जाना, रोजगारमें नफा नुकसानका होना, दूसरेके द्वारा अपमान
सम्मानका किया जाना, अकस्मात् मकानका गिर पड़ना, फसलका न
हो जाना, ऋतुका अनुकूल प्रतिकूल होना, अकाल या सुकालका पड़
रास्ता चलते चलते अपघातका हो जाना, किसीके ऊपर बिजलीका गिर
अनु० व प्रतिकूल विविध प्रकारके संयोगों व वियोगोंका मिलना आ
कार्य हैं जिनका कारण कर्म नहीं है। भ्रमसे इन्हें कर्मोंका का

(१) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ सूत्र ३०।

समझा जाता है। पुत्रकी प्राप्ति होने पर मनुष्य भ्रमवश उसे अपने शुभ कर्मका कार्य समझता है और उसके मर जानेपर भ्रमवश उसे अपने अशुभ कर्मका कार्य समझता है। पर क्या पिताके अशुभोदयसे पुत्रकी मृत्यु या पिताके शुभोदयसे पुत्रकी उत्पत्ति सम्भव है? कभी नहीं। सच तो यह है कि ये इष्टसंयोग या इष्टवियोग आदि जितने भी कार्य हैं वे अच्छे बुरे कर्मोंके कार्य नहीं। निमित्त और बात है और कार्य और बात। निमित्तको कार्य कहना उचित नहीं है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें एक नोकर्म प्रकरण आया है। उससे भी उक्त कथनकी ही पुष्टि होती है। वहाँ मूल और उत्तर कर्मोंके नोकर्म बतलाते हुए इष्ट अन्न पान आदिको साता वेदनीयका, विदूषक या बहुरूपियाको हास्यकर्मका, सुपुत्रको रतिकर्मका, इष्टवियोग और अनिष्ट संयोगको अरति कर्मका, पुत्रमरणको शोक कर्मका, सिंह आदिको भय कर्मका और ग्लानिकर पदार्थोंको जुगुप्सा कर्मका नोकर्म द्रव्यकर्म बतलाया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डका यह कथन तभी बनता है जब धन सम्पत्ति और दरिद्रता आदिको शुभ और अशुभ कर्मोंके उदयमें निमित्त माना जाता है।

कर्मोंके अवान्तर भेद करके उनके जो नाम गिनाये गये हैं उनको देखनेसे भी ज्ञात होता है कि बाह्य सामग्रियोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलतामें कर्म कारण नहीं हैं। बाह्य सामग्रियोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलता या तो प्रयत्नपूर्वक होती है या सहज ही हो जाती है। पहले साता वेदनीयका उदय होता है और तब जाकर इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति होती है ऐसा नहीं है। किन्तु इष्ट सामग्रीका निमित्त पाकर साता वेदनीयका उदय होता है ऐसा है।

---

(१) गाथा ७३। (२) गाथा ७६। (३) गाथा ७७।

रेलगाड़ीसे सफर करने पर हमें कितने ही प्रकारके मनुष्योंका समागम होता है। कोई हँसता हुआ मिलता है तो कोई रोता हुआ। इनसे हमें सुख भी होता है और दुख भी। तो क्या ये हमारे शुभाशुभ कर्मोंके कारण रेलगाड़ीमें सफर करने आये हैं? कभी नहीं। जैसे हम अपने कामसे सफर कर रहे हैं वैसे वे भी अपने-अपने कामसे सफर कर रहे हैं। हमारे और उनके संयोग वियोगमें न हमारा कर्म कारण है और न उनका ही कर्म कारण है। यह संयोग या वियोग या तो प्रयत्नपूर्वक होता है या काकतालीय न्यायसे सहज होता है। इसमें किसीका कर्म कारण नहीं है। फिर भी यह अच्छे बुरे कर्मके उदयमें सहायक होता रहता है।

नैयायिक दर्शनकी आलोचना—इस व्यवस्थाको ध्यानमें रखकर नैयायिकोंके कर्मवादकी आलोचना करने पर उसमें अनेक दोष दिखाई देते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो आजकी सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था और एकतन्त्रके प्रति नैयायिकोंका ईश्वरवाद और कर्मवाद ही उत्तरदायी है। इसीने भारतवर्षको चालू व्यवस्थाका गुलाम बनाना सिखाया। जातीयताका पहाड़ लाद दिया। परिग्रहवादियोंको परिग्रहके अधिकाधिक संग्रह करनेमें मदद दी। गरीबीको कर्मका दुर्विपाक बतला कर सिर न उठाने दिया। स्वामी सेवक भाव पैदा किया। ईश्वर और कर्मके नाम पर यह सब हमसे कराया गया। धर्मने भी इसमें मदद की। विचारा कर्म तो बदनाम हुआ ही, धर्मको भी बदनाम होना पड़ा। यह रोग भारतवर्षमें ही न रहा। भारतवर्षके बाहर भी फैल गया।

इस बुराईको दूर करना है—यद्यपि जैन कर्मवादकी शिक्षा द्वारा जनताको यह बतलाया गया कि जन्मसे न कोई छूत होता और न अछूत। यह भेद मनुष्यकृत है। एकके पास अधिक पूँजीका होना और दूसरेके पास एक दमड़ीका न होना, एकका मोटरोंमें घूमना और दूसरेका भीख माँगते हुए डोलना यह भी कर्मका फल नहीं

क्योंकि यदि अधिक पूँजीको पुण्यका फल और पूँजीके न होनेको पापका फल माना जाता है तो अल्पसंतोषी और साधु दोनों ही पापी ठहरेंगे। किन्तु इन शिक्षाओंका जनता और साहित्य पर स्थायी असर नहीं हुआ।

अजैन लेखकोंने तो नैयायिकोंके कर्मवादका समर्थन किया ही, किन्तु उत्तरकालवर्ती जैन लेखकोंने जो कथा-साहित्य लिखा है उससे भी प्रायः नैयायिक कर्मवादका ही समर्थन होता है। वे जैन कर्मवादके आध्यात्मिक रहस्यको एक प्रकारसे भूलते ही गये और उनके ऊपर नैयायिक कर्मवादका गहरा रंग चढ़ता गया। अजैन लेखकों द्वारा लिखे गये कथा साहित्यको पढ़ जाइये और जैन लेखकों द्वारा लिखे गये कथा साहित्यको पढ़ जाइये पुण्य पापके वर्णन करनेमें दोनोंने कमाल किया है। दोनों ही एक दृष्टिकोणसे विचार करते हैं। अजैन लेखकोंके समान जैन लेखक भी बाह्य आधारोंको लेकर चलते हैं। वे जैन मान्यताके अनुसार कर्मोंके वर्गीकरण और उनके अवान्तर भेदोंको सर्वथा भूलते गये। जैन दर्शनमें यद्यपि कर्मोंके पुण्य कर्म और पापकर्म ऐसे भेद मिलते हैं पर इससे गरीबी पापकर्मका फल है और सम्पत्ति पुण्य कर्मका फल है यह नहीं सिद्ध होता। गरीब होकर के भी मनुष्य सुखी देखा जाता है और सम्पत्तिवाला होकरके भी वह दुखी देखा जाता है। पुण्य और पापकी व्याप्ति सुख और दुखसे की जा सकती है गरीबी अमीरीसे नहीं। इसीसे जैनदर्शनमें सातावेदनीय और असातावेदनीयका फल सुख-दुख बतलाया है अमीरी गरीबी नहीं। जैन साहित्यमें यह दोष बराबर चालू है। इसी दोषके कारण जैन जनताको कर्मकी अप्राकृतिक और अवास्तविक उलझनमें फँसना पड़ा है। जब वे कथा ग्रन्थोंमें और सुभाषितोंमें[1] यह पढ़ते हैं कि 'पुरुषका भाग्य जागने पर घर बैठे ही रत्न मिल जाते हैं और भाग्यके

---

(१) सुभाषितरत्नसन्दोह पृ० ४७ श्लोक २५७।

अभावमें समुद्रमें पैठने पर भी उनकी प्राप्ति होती नहीं।' 'सर्वत्र भाग्य ही फलता है विद्या और पौरुष कुछ काम नहीं आता।' तब वे कर्मके सामने अपना मस्तक टेक देते हैं। वे जैन कर्मवादके आध्यात्मिक रहस्यको सदाके लिये भूल जाते हैं।

वर्तमानकालीन विद्वान भी इस दोपसे अछूते नहीं बचे हैं। वे भी धन-सम्पत्तिके सद्भाव असद्भावको पुण्य पापका फल मानते हैं। उनके सामने आर्थिक व्यवस्थाका रसियाका सुन्दर उदाहरण है रसियामें आज भी थोड़ी बहुत आर्थिक विपमता नहीं है ऐसा नहीं है। वह प्रारम्भिक प्रयोग है। यदि उचित दिशामें काम होता गया और अन्य परिग्रहवादी राष्ट्रोंका अनुचित दबाव न पड़ा तो यह आर्थिक विपमता थोड़े ही दिनकी चीज है। जैन कर्मवादके अनुसार साता असाता कर्मकी व्याप्ति सुख-दुखके साथ है, बाह्य पूँजीके सद्भाव असद्भावके साथ नहीं। किन्तु जैन लेखक और विद्वान आज इस सत्यको सर्वथा भूले हुए हैं।

सामाजिक व्यवस्थाके सम्बन्धमें प्रारम्भमें यद्यपि जैन लेखकोंका उतना दोप नहीं है। इस सम्बन्धमें उन्होंने उदारताकी नीति बरती है। उन्होंने स्पष्ट घोपणा की थी कि सब मनुष्य एक हैं। उनमें कोई जाति-भेद नहीं है। बाह्य जो भी भेद है वह आजीविकाकृत ही है। यद्यपि उन्होंने अपने इस मतका बड़े जोरोंसे समर्थन किया था किन्तु व्यवहारमें वे इसे निभा न सके। धीरे-धीरे पड़ौसी धर्मके अनुसार उनमें भी [illegible]िय भेद जोर पकड़ता गया।

[illegible] वर्तमानमें हमारे साहित्य और विद्वानोंकी यह दशा है।

१) भाग्यं फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्।
२) 'मनुष्यजातिरेकैव।'—महापुराण
३) देखो प्रमेयकमल मार्तण्ड।

तब भी निराश होनेकी कोई बात नहीं है। हमें पुनः अपनी मूल-शिक्षाओंकी ओर ध्यान देना है। हमें जैन कर्मवादके रहस्य और उसकी मर्यादाओंको समझना है और उसके अनुसार कार्य करना है। माना कि जिस बुराईका हमने ऊपर उल्लेख किया है वह जीवन और साहित्यमें घुल-मिल गई है पर यदि इस दिशामें हमारा दृढ़तर प्रयत्न चालू रहा तो वह दिन दूर नहीं जब हम जीवन और साहित्य दोनोंमें आई हुई इस बुराईको दूर करनेमें सफल होंगे।

समताधर्मकी जय, गरीबी और पूंजीको पाप-पुण्यका फल न बतलानेवाले कर्मवादकी जय, छूत अछूतको जातिगत न माननेवाले कर्मवादकी जय, परम अहिंसा धर्मकी जय।

जैनं जयतु शासनम्।
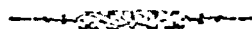
अभावमें समुद्रमें पैठने पर भी उनकी प्राप्ति होती नहीं।' 'सर्वत्र भाग्य ही फलता है विद्या और पौरुष कुछ काम नहीं आता।' तब वे कर्मके सामने अपना मस्तक टेक देते हैं। वे जैन कर्मवादके आध्यात्मिक रहस्यको सदाके लिये भूल जाते हैं।

वर्तमानकालीन विद्वान भी इस दोषसे अछूते नहीं बचे हैं। वे भी धन-सम्पत्तिके सद्भाव असद्भावको पुण्य पापका फल मानते हैं। उनके सामने आर्थिक व्यवस्थाका रसियाका सुन्दर उदाहरण है रसियामें आज भी थोड़ी बहुत आर्थिक विषमता नहीं है ऐसा नहीं है। वह प्रारम्भिक प्रयोग है। यदि उचित दिशामें काम होता गया और अन्य परिग्रहवादी राष्ट्रोंका अनुचित दबाव न पड़ा तो यह आर्थिक विषमता थोड़े ही दिनकी चीज है। जैन कर्मवादके अनुसार साता असाता कर्मकी व्याप्ति सुख-दुखके साथ है, बाह्य पूँजीके सद्भाव असद्भावके साथ नहीं। किन्तु जैन लेखक और विद्वान आज इस सत्यको सर्वथा भूले हुए हैं।

सामाजिक व्यवस्थाके सम्बन्धमें प्रारम्भमें यद्यपि जैन लेखकोंका [illegible] दोष नहीं है। इस सम्बन्धमें उन्होंने उदारताकी नीति बरती है। [illegible]ोंने स्पष्ट घोषणा की थी कि सब मनुष्य एक हैं। उनमें कोई जाति[illegible] नहीं है। बाह्य जो भी भेद है वह आजीविकाकृत ही है। यद्यपि उन्होंने अपने इस मतका बड़े जोरोंसे समर्थन किया था किन्तु व्यवहारमें वे इसे निभा न सके। धीरे-धीरे पड़ौसी धर्मके अनुसार उनमें भी जातीय भेद जोर पकड़ता गया।

यद्यपि वर्तमानमें हमारे साहित्य और विद्वानोंकी यह दशा है

(१) भाग्यं फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्।
(२) 'मनुष्यजातिरेकैव।'—महापुराण
(३) देखो प्रमेयकमल मार्तण्ड।

सप्ततिका प्रकरण की विषयानुक्रमणिका

सप्ततिका प्रकरण की विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

श्रीवीतरागाय नमः

सप्ततिका प्रकरण

(षष्ठ कर्मग्रन्थ)

आगममें बतलाया है कि सबसे पहले सर्वज्ञदेवने अर्थका पदेश दिया। तदनन्तर उसको अवधारण करके गणधर देवने नुसार बारह अंगोंकी रचा। अन्य आचार्य इन बारह अंगोंको ज्ञान् पढ़कर या परंपरासे जानकर ग्रंथ रचना करते हैं। जो स्त्र या प्रकरण इस प्रकार संकलित किया जाता है, बुद्धिमान् ग उसीका आदर करते हैं, अन्यका नहीं। इतने पर भी वे लोग सी शास्त्रके अध्ययन और अध्यापन आदि कार्योंमें तभी प्रवृत्त ते हैं जब उन्हें उस शास्त्रमें कहे गये विषय आदिका ठीक तरहसे ा लग जाता है, क्योंकि विषय आदिको बिना जाने प्रवृत्ति रनेवाले लोग न तो बुद्धिमान् ही कहे जा सकते हैं और न के किसी प्रकारके प्रयोजनकी ही सिद्धि हो सकती है, अतः इस ततिका प्रकरणके आदिमें इन दो बातोंका बतलाना आवश्यक निकर आचार्य सबसे पहले जिसमें इनका उल्लेख है, ऐसी तेज्ञागाथा को कहते हैं—

> सिद्धपएहिँ महत्थं बंधोदयसंतपयडिठाणाणं ।
> वोच्छं सुण संखेवं नीसंदं दिट्ठिवायस्स ॥१॥

अर्थ—सिद्धपद अर्थात् कर्मप्रकृतिप्राभृत आदिके अनुसार य ावस्थान और गुणस्थानोंका आश्रय लेकर बन्धप्रकृतिस्थ

उदयप्रकृतिस्थान और सत्त्व प्रकृतिस्थानोंका संक्षेपसे कथन
सुनो। जो संक्षेप कथन महान् अर्थवाला और दृष्टिवाद अं..
महार्णवकी एक बूंदके समान है।

विशेपार्थ—मलयगिरि आचार्यने इस गाथामें आये
'सिद्धपद' के दो अर्थ किये हैं। जिन ग्रंथोंके सत्र
सर्वज्ञोक्त अर्थका अनुसरण करनेवाले होनेसे सुप्रतिष्ठित हैं, वे
सिद्धपद कहे जाते हैं यह पहला अर्थ है। इस अर्थके ..
प्रकृतमें सिद्धपद शब्द कर्मप्रकृति आदि प्राभृतोंका वाचक है,
इस सप्ततिका नामक प्रकरणको ग्रंथकारने उन्हीं कर्मप्रकृति आ..
आधारसे संक्षेप रूपमें निबद्ध किया है। गाथाके चौथे च..
ग्रंथकारने स्वयं इसे दृष्टिवादरूपी महार्णवकी एक बूंदके ..
बतलाया है। मालूम होता है इसी बातको ध्यानमें रखकर म..
गिरि आचार्यने भी सिद्धपदका उक्त अर्थ किया है। तात्पर्य
है कि दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगके परिकर्म, सूत्र, प्रथमानु..
पूर्वगत और चूलिका ये पाँच भेद हैं। इनमें से पूर्वगतके ..
पूर्व आदि चौदह भेद हैं, जिनमें दूसरे भेदका नाम अग्रा..
है। इसके मुख्य चौदह अधिकार हैं जिन्हें वस्तु कहते हैं। ..
पाँचवीं वस्तुके बीस उप अधिकार हैं जिन्हें प्राभृत कहते हैं। ..
से चौथे प्राभृतका नाम कर्मप्रकृति है। मुख्यतया इसीके आध..
इस सप्ततिका नामक प्रकरणकी रचना हुई है। इससे हम यह
जान लेते हैं कि यह प्रकरण सर्वज्ञदेवके द्वारा कहे गये ..
अनुसरण करनेवाला होनेसे प्रमाणभूत है, क्योंकि जिस
सर्वज्ञदेवने कहा और जिसको गणधर देवने बारह अंगोंमें ..
किया उसीके अनुसार इसकी रचना हुई है।

तथा जिनागममें जीवस्थान और गुणस्थान सर्वत्र ..
या आगे ग्रन्थकार स्वयं जीवस्थान और गुणस्थानोंका आश्रय

बन्धस्थान आदिका और उनके संवेध भंगोंका कथन करनेवाले हैं इसलिये मलयगिरि आचार्यने 'सिद्धपद' का दूसरा अर्थ जीवस्थान और गुणस्थान किया है। तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थमें या अन्यत्र बन्ध और उदयादिका कथन करनेके लिये जीवस्थान और गुणस्थानोंका आश्रय लिया गया है, अतः इसी विवक्षासे टीकाकारने 'सिद्धपद' का यह दूसरा अर्थ किया है।

उपर्युक्त विवेचनसे यद्यपि हम यह जान लेते हैं कि इस सप्ततिका नामक प्रकरणमें कर्मप्रकृति प्राभृत आदिके विषयका संक्षेप किया गया है तो भी इसका यह अर्थ नहीं कि इसमें अर्थगौरव नहीं है। यद्यपि ऐसे बहुतसे आख्यान, आलापक और संग्रहणी आदि ग्रंथ हैं जो संक्षिप्त होकर भी अर्थगौरवसे रहित होते हैं पर यह ग्रंथ उनमेंसे नहीं है। ग्रंथकारने इसी बातका ज्ञान करानेके लिये गाथामें विशेषणरूपसे 'महार्थ' पद दिया है।

विषयका निर्देश करते हुए ग्रंथकारने इस गाथामें बन्ध, उदय और सत्त्वप्रकृतिस्थानोंके कहनेकी प्रतिज्ञा की है। जिस प्रकार लोहपिंडके प्रत्येक कणमें अग्नि प्रविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार कर्मपरमाणुओंका आत्मप्रदेशोंके साथ परस्पर जो एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध होता है उसे बन्ध कहते हैं। विपाक अवस्थाको प्राप्त हुए कर्मपरमाणुओंके भोगको उदय कहते हैं। तथा बन्धसमयसे लेकर या संक्रमण समयसे लेकर जब तक उन कर्मपरमाणुओंका अन्य प्रकृति रूपसे संक्रमण नहीं होता या जब तक उनकी निर्जरा नहीं होती तब तक उनके आत्मासे लगे रहनेको सत्ता कहते हैं। प्रकृतमें स्थान शब्द समुदायवाची है, अतः गाथामें आये हुए 'प्रकृतिस्थान' पदसे दो तीन आदि प्रकृतियोंके समुदायका ग्रहण होता है। ये प्रकृतिस्थान बन्ध, उदय और सत्त्वके भेदसे तीन प्रकारके हैं। इस ग्रन्थमें इन्हींका विस्तारसे विवेचन किया गया है।

गाथामें 'सुण' यह क्रियापद आया है। इससे ग्रंथकारने ध्वनित किया है कि आचार्य शिष्योंको सावधान करके व्याख्यान करे। यदा कदाचित शिष्योंके प्रमादित हो जाने भी आचार्य उद्विग्न न होवे किन्तु शिक्षायोग्य मधुर वचनोंसे शिष्योंके मनको प्रसन्न करके आगमका रहस्य समझावे। आ की यह एक कला है जो शिष्यमें उत्कृष्ट योग्यता ला देती संसारमें रत्न शोधकगुणके द्वारा ही गुणोत्कर्षको प्राप्त होता आचार्यमें इस शोधक गुणका होना अत्यन्त आवश्यक है। घोड़ेको काबूमें रखना इसमें सारथिकी महत्ता नहीं है, किन्तु सारथि दुष्ट घोड़ेको शिक्षा आदिके द्वारा काबूमें कर लेता है, सच्चा सारथि समझा जाता है। यही बात आचार्यमें भी होती है। आचार्यकी सच्ची सफलता इसमें है कि वह स्खलित हुए शिष्योंको भी सुपथगामी बनावे और उन्हें अध्ययनमें लगावे। पर यह बात कठोरतासे नहीं प्राप्त की सकती है, किन्तु सरल व्यवहार द्वारा शिष्योंके मनको हरण ही प्राप्त की जा सकती है। आचार्यके इस कर्त्तव्यको द्योतित के लिये ही गाथामें 'सुण' यह क्रियापद दिया है।

अब बन्ध, उदय और सत्त्व प्रकृतिस्थानोंके संवेधरूप के कहनेकी इच्छासे आचार्य शिष्य द्वारा प्रश्न कराके भंगोंके की सूचना करते हैं—

> कइ बंधंतो वेयइ कइ कइ वा पयडिसंतठाणाणि।
> मूलुत्तरपगईसुं भंगवियप्पा उ बोधव्वा ॥२॥

अर्थ—कितनी प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके प्रकृतियोंका वेदन होता है, तथा कितनी प्रकृतियोंका बन्ध वेदन करनेवाले जीवके कितनी प्रकृतियोंका सत्त्व होता है?

होते हैं। इनमें से आठ प्रकृतिक बन्धस्थानमें सब मूल प्रकृति
सात प्रकृतिक बन्धस्थानमें आयुकर्मके विना सातका, छह प्रकृ
बन्धस्थानमें आयु और मोहनीय कर्मके विना छहका तथा
प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक वेदनीय कर्मका ग्रहण होता है। इ
यह भी तात्पर्य निकलता है कि आयु कर्मको बाँधनेवाले जी
आठों कर्मोंका, मोहनीय कर्मको बाँधनेवाले जीवके आठोंका
आयु विना सातका, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, नाम, गोत्र
अन्तराय कर्मको बाँधनेवाले जीवके आठोंका, सातका या छह
तथा एक वेदनीय कर्मको बाँधनेवाले जीवके आठोंका, सातक
छहका या एक वेदनीय कर्मका बन्ध होता है।

स्वामी— आयु कर्मका बन्ध अप्रमत्तसंयत गुणस्थान
होता है; किन्तु मिश्र गुणनस्थानमें नहीं होता। अतः मिश्र गुणस्था
के विना शेष छह गुणस्थान वाले जीव आयुबन्धके समय आ
प्रकृतिक बन्धस्थानके स्वामी होते हैं। मोहनीय कर्म का
नौवें गुणस्थान तक होता है, अतः प्रारम्भके नौ गुणस्थानवा
जीव सात प्रकृतिक बन्धस्थानके स्वामी होते हैं। किन्तु
आयु कर्मका बन्ध होता हो वे सात प्रकृतिक बन्धस्थानके स्वा
नहीं होते। आयु और मोहनीय कर्मके विना शेष छह कर्मो
बन्ध केवल दसवें गुणस्थानमें होता है, अतः सूक्ष्मसांपरा

(१) 'आउम्मि अट्ठ मोहेट्ठ सत्त एक्कं च छाइ वा तइए। बज्झंत
बज्झंति सेसएसुं छ सत्तट्ठ ॥'—पञ्चसं० सप्तति० गा० २।

(२) 'छसु सगविहमट्ठविहं कम्मं बंधंति तिसु य सत्तविहं। छ
... तिसु एक्कमबंधगो एक्को ॥'—गो० कर्म० गा० ४५२।

ंयत जीव छह प्रकृतिक बन्धस्थानके स्वामी होते हैं। तथा वल वेदनीयका बन्ध ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें होता है, अतः उक्त तीन गुणस्थानवाले जीव एक प्रकृतिक बन्धस्थान के स्वामी होते हैं।

बन्धस्थानोंका काल आयुकर्मका जघन्य और उत्कृष्ट बन्धकाल अन्तमूहूर्त है। तथा आठ प्रकृतिक बन्धस्थान आयुकर्म के बन्धके समय ही होता है, अतः आठ प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण जानना चाहिये। सात प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि जो अप्रमत्तसंयत जीव आठ मूल प्रकृतियोंका बन्ध करके सात प्रकृतियोंके बन्धका प्रारम्भ करता है, वह यदि उपशम श्रेणी पर आरोहण करके अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है तो उसके सात प्रकृतिक बन्धस्थान-का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है, कारण कि सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानमें छह प्रकृतिक स्थानका बन्ध होने लगता है, इसी प्रकार लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी अपेक्षा भी सात प्रकृतिक बन्धस्थान-का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त किया जा सकता है। तथा सात प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्टकाल छह माह और अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि वर्षका त्रिभाग अधिक तेतीस सागर है। क्योंकि जब एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण आयुवाले किसी मनुष्य या तिर्यंचके आयुके एक त्रिभाग शेष रहने पर अन्तर्मुहूर्त कालतक पर भवसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है। अनन्तर भुज्यमान आयुके समाप्त हो जानेपर वह जीव तेतीस सागरप्रमाण आयुवाले देवोंमें या नारकियोंमें उत्पन्न होकर और वहाँ

छह माह शेष रहने पर पुनः परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध करत है तब उसके सात प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्ट काल उक्त प्रमाण प्राप्त होता है। छह प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। यह हम पहले ही बतला आये हैं कि छह प्रकृतिक बन्धस्थानका स्वामी सूक्ष्मसम्परायसंयत जीव होता है, अतः उक्त गुणस्थानवाला जो उपशामक जीव उपशम श्रेणी पर चढ़ते समय या उतरते समय एक समयतक सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानमें रहता है और मरकर दूसरे समयमें अविरत सम्यग्दृष्टि देव हो जाता है उसके छह प्रकृतिक बन्ध स्थानका जघन्यकाल एक समय प्राप्त होता है। तथा छह प्रकृति बन्धस्थानका अन्तर्मुहूर्तप्रमाण उत्कृष्टकाल सूक्ष्मसम्पराय गुणस्था के उत्कृष्ट कालकी अपेक्षा कहा है, क्योंकि सूक्ष्म सम्पराय गुण स्थानका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त होता है। एक प्रकृतिक बन्धस्था का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है। जो उपशम श्रेणीवाला जीव उपशान्तमोह गुण स्थानमें एक समय तक रहता है और मरकर दूसरे समयमें दे हो जाता है, उस उपशान्त मोही जीवके एक प्रकृतिक बन्ध स्था का जघन्यकाल एक समय प्राप्त होता है। तथा एक पूर्व कोटि वर्षकी आयुवाला जो मनुष्य सात माह गर्भमें रहकर और त नन्तर जन्म लेकर आठ वर्ष प्रमाण कालके व्यतीत होने प संयमको प्राप्त करके एक अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर क्षीणमोह हो जाता है, उसके एक प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्ट काल आठ व ... मास और अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण प्राप्त होता है।

समझना चाहिये, किन्तु इतनी विशेषता है कि एक प्रकृतिक क
स्थानके उत्कृष्ट कालमेंसे क्षीणमोह गुणस्थानका काल घटा देने
चार प्रकृतिक उदयस्थानका उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है जिस
उल्लेख पहले किया ही है।

उदयस्थानों की उक्त विशेषताओं का ज्ञापक कोष्टक

[२]

उदयस्था०	मूल प्र०	स्वामी	काल	
			जघन्य	उत्कृष्ट
८ प्रकृति०	सब	प्रारम्भके १० गुण०	अन्तर्मु०	कुछ कम अर्ध
७ प्रकृ०	मोह बिना	११वाँ व १२वाँ गुण०	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
४ प्रकृ०	चार अघाति	१३वाँ व १४वाँ	अन्तर्मु०	देशोन पूर्व

सत्तास्थान—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और चार प्र
तिक, इस प्रकार मूल प्रकृतियोंके सत्त्वस्थान तीन हैं। आठ प्रकृ
सत्त्वस्थानमें सब मूल प्रकृतियों की सात प्रकृतिक सत्त्वस्था
मोहनीयके बिना सातकी और चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें
अघाति कर्मोंकी सत्ता पाई जाती है। इनमें यह भी विश
विशेषता है कि मोहनीयके रहते हुए आठोंका, ज्ञानावरण, द
र्शनावरण और अन्तरायके रहते हुए आठोंका या मोहनीय बिना स

समझना चाहिये, किन्तु इतनी विशेषता है कि एक प्रकृतिक बन्ध-स्थानके उत्कृष्ट कालमेंसे क्षीणमोह गुणस्थानका काल घटा देने पर चार प्रकृतिक उदयस्थानका उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है जिसका उल्लेख पहले किया ही है।

उदयस्थानों की उक्त विशेषताओं का ज्ञापक कोष्ठक

[२]

उदयस्था०	मूल प्र०	स्वामी	काल	
			जघन्य	उत्कृष्ट
८ प्रकृति०	सब	प्रारम्भके १० गुण०	अन्तर्मु०	कुछ कम अपार्ध०
७ प्रकृ०	मोह बिना	११वाँ व १२वाँ गुण०	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
४ प्रकृ०	चारअघाति	१३वाँ व १४ वाँ	अन्तर्मु०	देशोन पूर्वकोटि

सत्तास्थान—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और चार प्रकृतिक इस प्रकार मूल प्रकृतियोंके सत्त्वस्थान तीन हैं। आठ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें सब मूल प्रकृतियों की सात प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें मोहनीयके बिना सातकी और चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें चार अघाति कर्मोंकी सत्ता पाई जाती है। इससे यह भी तात्पर्य निकलता है कि मोहनीयके रहते हुए आठोंकी, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायके रहते हुए आठोंकी या मोहनीय बिना सात

की तथा चार अघाति कर्मोंके रहते हुए आठोंकी, मोहनीय बिना सातकी या चार अघाति कर्मोंकी सत्ता पाई जाती है।

स्वामी—केवल चार अघाति कर्मोंकी सत्ता सयोगी और अयोगी जिनके होती है, अतः चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानके स्वामी सयोगी और अयोगी जिन होते हैं मोहनीयके बिना शेष सात कर्मोंकी सत्ता क्षीणकषाय गुणस्थानमें पाई जाती है, अतः सात प्रकृतिक सत्त्वस्थानके स्वामी क्षीणमोह जीव होते हैं, तथा आठों कर्मोंकी सत्ता उपशान्तमोह गुणस्थान तक पाई जाती है, अतः आठ प्रकृतिक सत्त्वस्थानके स्वामी प्रारम्भके ग्यारह गुणस्थानवाले जीव होते हैं।

काल—अभव्योंकी अपेक्षा आठ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका काल अनादि अनन्त है, क्योंकि उनके एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है और मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें किसी भी मूल प्रकृतिकी क्षपणा नहीं होती, तथा भव्योंकी अपेक्षा आठ प्रकृतिक सत्त्वस्थान का काल अनादि-सान्त है, क्योंकि क्षपक सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानमें ही मोहनीय कर्मका समूल नाश होता है और तब जाकर क्षीणमोह गुणस्थानमें सात प्रकृतिक सत्त्वस्थानकी प्राप्ति होती है, ऐसे जीवका प्रतिपात नहीं होता, अतः सिद्ध हुआ कि भव्योंकी अपेक्षा आठ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका काल अनादि-सान्त है। सात प्रकृतिक सत्त्वस्थान क्षीणमोह गुणस्थानमें होता है और क्षीणमोह गुणस्थानका जघन्य तथा उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, अतः सात प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट काल भी अन्तर्मुहूर्त ही

---

(१) 'संतो त्ति अट्ठसत्ता खीणे सत्तेव होंति सत्ताणि। जोगिम्मि अजोगिम्मि य चत्तारि हवंति सत्ताणि॥'—गो० कर्म० गा० ४५७।

प्राप्त होता है। तथा सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानोंका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है, अतः चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटि वर्षप्रमाण प्राप्त होता है। यहाँ कुछ कमसे आठ वर्ष सातमास और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कालका ग्रहण करना चाहिये।

सत्त्वस्थानों की उक्त विशेषताओं का ज्ञापक कोष्ठक

[३]

सत्त्वस्था०	मूल प्र०	स्वामी	काल	
			जघन्य	उत्कृष्ट
८ प्रकृतिक	सब	प्रारम्भ के ११ गु०	अनादि सान्त	अनादि-अनन्त
[illegible]	मोहनीय बिना	क्षीणमोह गु०	अन्तर्मु०	अन्तर्मु०
तक	४ अघाति	सयोगी व अयोगी	अन्तर्मु०	देशोन पूर्व को०

१. आठ मूल कर्मोंके संवेध भंग

अब मूल प्रकृतियोंके बन्ध, उदय और सत्त्वस्थानोंके परस्पर संवेधका कथन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयसंताइं ।
एगविहे तिविगप्पो एगविगप्पो अबंधम्मि ॥ ३ ॥

अर्थ—आठ, सात और छह प्रकारके कर्मोंका बन्ध होते समय उदय और सत्ता आठों कर्मोंकी होती है। केवल वेदनीयका बन्ध होते समय उदय और सत्ताकी अपेक्षा तीन विकल्प होते हैं, तथा बन्धके न होने पर उदय और सत्ताकी अपेक्षा एक ही विकल्प होता है।

विशेषार्थ—मिश्र गुणस्थानके विना अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तकके जीव आयुबन्धके समय आठों कर्मोंका बन्ध कर सकते हैं। अनिवृत्तिबादरसम्पराय गुणस्थान तकके जीव आयु विना सात कर्मोंका बन्ध करते हैं और सूक्ष्मसम्पराय संयत जीव आयु और मोहनीय कर्मके विना छह कर्मोंका बन्ध करते हैं। ये सब उपर्युक्त जीव सराग होते हैं और सरागता मोहनीय कर्मके उदयसे प्राप्त होती है। तथा मोहनीय का उदय रहते हुए उसकी सत्ता अवश्य पाई जाती है, अतः आठ, सात और छह प्रकारके कर्मोंका बन्ध होते समय उदय व सत्ता आठों कर्मों की होती है, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार इस कथनसे तीन भंग प्राप्त होते हैं। जो निम्न प्रकार हैं—(१) आठ प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व। (२) सात प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व तथा (३) छह प्रकृतिक बन्ध आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व।

---

(१) सत्तट्ठछब्बंधेसुं उदओ अट्ठण्ह होइ पयडीणं। सत्तण्ह चउण्हं वा उदओ सायस्स बन्धम्मि ॥—पञ्चसं० सप्तति० गा० ५।

'अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयकम्मंसा। एयविहे तिवियप्पो एयवियप्पो अबंधम्मि ॥'—गो० कर्म० गा० ६२८।

सत्तट्ठबंधअट्ठुदयसंत तेरससु जीवठाणेसु ।
एगम्मि पंच भंगा दो भंगा हुंति केवलिणो ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रारम्भ के तेरह जीवस्थानों में सात प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व तथा आठ प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थानमें प्रारम्भके पाँच भंग होते हैं, तथा केवली जिनके अन्तके दो भंग होते हैं।

विशेषार्थ—यद्यपि जीव अनन्त हैं और उनकी जातियाँ भी बहुत हैं। फिर भी जिन समान पर्यायरूप धर्मोंके द्वारा उनका संग्रह किया जाता है, उन्हें जीवस्थान या जीवसमास कहते हैं। ऐसे धर्म प्रकृतमें चौदह विवक्षित हैं, अतः इनकी अपेक्षा जीवस्थानोंके भी चौदह भेद हो जाते हैं। यथा—अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, पर्याप्त द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त तीन इन्द्रिय, पर्याप्त तीन इन्द्रिय, अपर्याप्त चार इन्द्रिय, पर्याप्त चार इन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय। इनमेंसे प्रारम्भके तेरह जीवस्थानोंमें दो भंग होते हैं, क्योंकि इन जीवोंके दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीयकी उपशमना या क्षपणा करनेकी योग्यता नहीं पाई जाती, अतः इनके अधिकतर मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। यद्यपि इनमेंसे कुछके सास्वादन गुणस्थान भी सम्भव है फिर भी उससे भंगोंमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इन जीवसमासों में जो दो भंग होते हैं, उनका उल्लेख गाथामें ही किया है। इन दो भंगोंमें से सात प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह

पहला भंग जब आयुकर्मका बन्ध नहीं होता तब होता है। तथा आठ प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह दूसरा भंग आयुकर्मके बन्धके समय होता है। इनमेंसे पहले भंगका काल प्रत्येक जीवस्थानके आयुके कालका विचार करके यथायोग्य घटित कर लेना चाहिये। किन्तु दूसरे भंगका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि आयुकर्मके बन्धका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रियके उक्त दो भंग तो होते ही हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त (१) छः प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व (२) एक प्रकृतिक बन्ध, सात प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व तथा (३) एक प्रकृतिक बन्ध, सात प्रकृतिक उदय और सात प्रकृतिक सत्त्व ये तीन भंग और होते हैं। इस प्रकार पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रियके कुल पाँच भंग होते हैं। इनमेंसे पहला भंग अनिवृत्तकरण गुणस्थान तक होता है। दूसरा भंग अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होता है। तीसरा भंग उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी में विद्यमान सूक्ष्म सम्पराय संयत जीवोंके होता है। चौथा भंग उपशान्तमोह गुणस्थानमें होता है और पाँचवाँ भंग क्षीणमोह गुणस्थानमें होता है। केवलीके दो भंग होते हैं, यह जो गाथामें बतलाया है सो इसका यह तात्पर्य है कि केवली जिनके एक प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व तथा चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं। इनमेंसे पहला भंग सयोगिकेवलीके होता है, क्योंकि एक प्रकृतिक बन्धस्थान उन्हींके पाया जाता है। दूसरा भंग अयोगिकेवलीके होता है, क्योंकि इनके किसी कर्मका बन्ध न होकर केवल चार अघाति कर्मोंका उदय और पाया जाता है। यद्यपि चौदह जीवस्थानोंमें केवली नामका

पृथक् जीवस्थान नहीं गिनाया है, अतः इसका उपचारसे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त नामक जीवस्थानमें अन्तर्भाव किया जा सकता है। किन्तु केवली जीव संज्ञी नहीं होते हैं, क्योंकि उनके क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रहते अतः केवलीके संज्ञित्वका निषेध करनेके लिये गाथामें उनके भंगोंका पृथक् निर्देश किया है। कोष्टक निम्न प्रकार है—

[५]

बन्ध प्र०	उदय प्र०	सत्त्व प्र०	जीवस्थान	काल	
				जघन्य	उत्कृष्ट
८	८	८	१४	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
७	८	८	१४	अन्तर्मुहूर्त	यथायोग्य
६	८	८	संज्ञी प०	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
१	७	८	संज्ञी प०	एक समय	अन्तर्मु०
१	७	७	संज्ञी प०	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
१	४	४	सयोगि के०	अन्तर्मुहूर्त	देशोन पूर्वकोटि
०	४	४	अयोगि०	पाँच ह्रस्व स्वरोंके उ० का० प्र०	पाँच ह्रस्व स्वरोंके उच्चारण काल प्र०

सूचना—चौदह जीवस्थानोंकी अपेक्षा सात प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व का उत्कृष्ट काल एक साथ नहीं बतलाया जा सकता है इसलिये हमने इस भंगके उत्कृष्ट कालके स्थानमें 'यथायोग्य' ऐसा लिख दिया है। इसका यह तात्पर्य है कि एकेन्द्रियके चार, द्वीन्द्रियके दो, त्रीन्द्रियके दो, चतुरिन्द्रियके दो और पंचेन्द्रियके चार इन चौदह जीवस्थानोंमें से प्रत्येक जीवस्थानकी आयुका अलग अलग विचार करके उक्त भंगके कालका कथन करना चाहिये। फिर भी इस भंगका काल विवक्षित किसी भी जीवस्थानकी एक पर्यायकी अपेक्षा नहीं प्राप्त होता किन्तु दो पर्यायोंकी अपेक्षा प्राप्त होता है क्योंकि पहली पर्यायमें आयुबन्धके उपरत होनेके कालसे लेकर दूसरी पर्यायमें आयुबन्धके प्रारम्भ होने तकका काल यहाँ विवक्षित है. अन्यथा इस भंगका उत्कृष्ट काल नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

३. मूल कर्मोंके गुणस्थानोंमें संवेध भंग

अट्ठसु एगविगप्पो छस्सु वि गुणसंनिएसु दुविगप्पो।
पत्तेयं पत्तेयं बंधोदयसंतकम्माणं ॥ ५ ॥

अर्थ—आठ गुणस्थानोंमें बन्ध, उदय और सत्तारूप कर्मोंका अलग अलग एक एक भंग होता है और छः गुणस्थानोंमें दो दो भंग होते हैं।

---

(१) 'मिस्से अपुव्वजुगले विदियं अपमत्तओ त्ति पढमदुगं।
सुहुमासु तदियादी बंधोदयसत्तभंगेसु ॥'—गो० कर्म० गा० ६२६

विशेषार्थ—मोह और योगके निमित्तसे जो दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप आत्माके गुणोंकी तारतम्यरूप अवस्थाविशेष होती है उसे गुणस्थान कहते हैं। यहाँ गुणसे दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप जीवके स्वभाव लिये गये हैं और स्थानसे उनको तारतम्यरूप अवस्थाओंका ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके तथा योगके रहते हुए जिन मिथ्यात्व आदि परिणामोंके द्वारा जीवोंका विभाग किया जाता है, उन परिणामोंको गुणस्थान कहते हैं। वे गुणस्थान चौदह हैं-मिथ्यादृष्टि, सास्वादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादर, सूक्ष्मसम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली। इनमें से प्रारम्भके बारह गुणस्थान मुख्यतया मोहनीय कर्मके निमित्तसे होते हैं, क्योंकि इन गुणस्थानों का विभाग इसी अपेक्षासे किया गया है। तथा सयोगिकेवली और अयोगिकेवली ये दो गुणस्थान योगके निमित्तसे होते हैं, क्योंकि सयोगिकेवली गुणस्थानमें योगका सद्भाव और अयोगिकेवली गुणस्थानमें योगका अभाव लिया गया है। इनमेंसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर प्रारम्भके अप्रमत्तसंयत तक के छः गुणस्थानोंमें आठ प्रकृतिकबन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व तथा सात प्रकृतिकबन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं। यहाँ पहला भंग आयुकर्मके बन्धके समय होता है और दूसरा भंग आयुकर्मके बन्धकालके सिवा सर्वदा

पाया जाता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति वादरसम्पराय इन तीन गुणस्थानोंमें सात प्रकृतिकबन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि इन गुणस्थानोंमें आयुकर्मका बन्ध नहीं होता ऐसा नियम है, अतः इनमें एक सात प्रकृतिक बन्धस्थान ही पाया जाता है। सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें छः प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि इस गुणस्थानमें वादर कषायका उदय न होनेसे आयु और मोहनीय कर्मका बन्ध नहीं होता किन्तु शेष छः कर्मोंका ही बन्ध होता है। उपशान्तमोह गुणस्थानमें एक प्रकृतिक बन्ध, सात प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि इस गुणस्थानमें मोहनीय कर्म उपशान्त होनेसे सात कर्मोंका ही उदय होता है। क्षीणमोह गुणस्थानमें एक प्रकृतिकबन्ध, सात प्रकृतिक उदय और सात प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानमें मोहनीय कर्मका समूल नाश हो जानेसे यहाँ उसका उदय और सत्त्व नहीं है। सयोगिकेवली गुणस्थानमें एक प्रकृतिकबन्ध, चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग है, क्योंकि यह गुणस्थान चार घाति कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होता है, अतः इसमें चार घाति कर्मोंका उदय और सत्त्व नहीं है। अयोगिकेवली गुणस्थानमें चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग है, क्योंकि इसमें योगका अभाव हो जानेसे एक भी कर्मका बन्ध नहीं होता है।

चौदह गुणस्थानोंमें मूल प्रकृतियोंके भंगोंका ज्ञापक कोष्ठक

[६]

भंग क्रम	बन्ध प्र०	उदय प्र०	सत्त्व प्र०	गुणस्थान
१	८ प्रकृ०	८ प्र०	८ प्रकृतिक	१, २, ४, ५, ६ व ७
२	७ प्रकृ०	८ प्र०	८ प्रकृतिक	१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ व ९
३	६ प्रकृ०	८ प्र०	८ प्रकृतिक	१० वाँ
४	१ प्रकृ०	७ प्र०	८ प्रकृतिक	११ वाँ
५	१ प्रकृ०	७ प्र०	७ प्रकृतिक	१२ वाँ
६	१ प्रकृ०	४ प्र०	४ प्रकृतिक	१३ वाँ
७	०	४ प्र०	४ प्रकृतिक	१४ वाँ

४. उत्तर प्रकृतियोंके संवेध भंग।

(ज्ञानावरण व [illegible]कर्म)

इस प्रकार मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा बन्ध, उदय और सत्त्व

पाया जाता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति बादरसम्पराय इन तीन गुणस्थानोंमें सात प्रकृतिकबन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि इन गुणस्थानोंमें आयुकर्मका बन्ध नहीं होता ऐसा नियम है, अतः इनमें एक सात प्रकृतिक बन्धस्थान ही पाया जाता है। सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें छः प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि इस गुणस्थानमें बादर कषायका उदय न होनेसे आयु और मोहनीय कर्मका बन्ध नहीं होता किन्तु शेष छः कर्मोंका ही बन्ध होता है। उपशान्तमोह गुणस्थानमें एक प्रकृतिक बन्ध, सात प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि इस गुण-स्थानमें मोहनीय कर्म उपशान्त होनेसे सात कर्मोंका ही उदय होता है। क्षीणमोह गुणस्थानमें एक प्रकृतिकबन्ध, सात प्रकृतिक उदय और सात प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानमें मोहनीय कर्मका समूल नाश हो जानेसे यहाँ उसका उदय और सत्त्व नहीं है। सयोगिकेवली गुणस्थानमें एक प्रकृतिकबन्ध, चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग है, क्योंकि यह गुणस्थान चार घाति कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होता है. अतः इसमें चार घाति कर्मोंका उदय और सत्त्व नहीं [illegible]। अयोगिकेवली गुणस्थानमें चार प्रकृतिक उदय और चार [illegible]क सत्त्व यह एक भंग है, क्योंकि इसमें योगका अभाव हो [illegible] एक भी कर्मका बन्ध नहीं होता है।

चौदह गुणस्थानोंमें मूल प्रकृतियोंके भंगोंका ज्ञापक कोष्ठक

[६]

भंग क्रम	बन्ध प्र०	उदय प्र०	सत्त्व प्र०	गुणस्थान
१	८ प्रकृ०	८ प्र०	८ प्रकृतिक	१, २, ४, ५, ६ व ७
२	७ प्रकृ०	८ प्र०	८ प्रकृतिक	१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ व ९
३	६ प्रकृ०	८ प्र०	८ प्रकृतिक	१० वाँ
४	१ प्रकृ०	७ प्र०	८ प्रकृतिक	११ वाँ
५	१ प्रकृ०	७ प्र०	७ प्रकृतिक	१२ वाँ
६	१ प्रकृ०	४ प्र०	४ प्रकृतिक	१३ वाँ
७	०	४ प्र०	४ प्रकृतिक	१४ वाँ

४. उत्तर प्रकृतियोंके संवेध भंग ।

(ज्ञानावरण व [illegible])

इस प्रकार मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा बन्ध, उदय और सत्त्व

पाया जाता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति बादरसम्पराय इन तीन गुणस्थानोंमें सात प्रकृतिकबन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि इन गुणस्थानोंमें आयुकर्मका बन्ध नहीं होता ऐसा नियम है, अतः इनमें एक सात प्रकृतिक बन्धस्थान ही पाया जाता है। सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें छः प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि इस गुणस्थानमें बादर कषायका उदय न होनेसे आयु और मोहनीय कर्मका बन्ध नहीं होता किन्तु शेष छः कर्मोंका ही बन्ध होता है। उपशान्तमोह गुणस्थानमें एक प्रकृतिक बन्ध, सात प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि इस गुणस्थानमें मोहनीय कर्म उपशान्त होनेसे सात कर्मोंका ही उदय होता है। क्षीणमोह गुणस्थानमें एक प्रकृतिकबन्ध, सात प्रकृतिक उदय और सात प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है, क्योंकि सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानमें मोहनीय कर्मका समूल नाश हो जानेसे यहाँ उसका उदय और सत्त्व नहीं है। सयोगिकेवली गुणस्थानमें एक प्रकृतिकबन्ध, चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग है, क्योंकि यह गुणस्थान चार घाति कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होता है. अतः इसमें चार घाति कर्मोंका उदय और सत्त्व नहीं ना। अयोगिकेवली गुणस्थानमें चार प्रकृतिक उदय और चार [illegible] सत्त्व यह एक भंग है, क्योंकि इसमें योगका अभाव हो [illegible] एक भी कर्मका बन्ध नहीं होता है।

उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है। इस प्रकार पाँचों ज्ञानावरण और पाँचों अन्तरायकी अपेक्षा संवेधभंग कुल दो प्राप्त होते हैं।

उक्त संवेध भंगोंका ज्ञापक कोष्ठक

[७]

भंग	बन्ध प्र०	उदय प्र०	सत्त्व प्र०	गुण०	काल	
					जघन्य	उत्कृष्ट
१	५	५ प्र०	५ प्र०	१से१०	अन्तर्मु०	देशोन अपार्ध पु० प०
२	०	५ प्र०	५ प्र०	११ व १२	एक समय	अन्तर्मु०

कालका विचार करते समय पाँच प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व इस भंगके अनादि-अनन्त, अनादि सान्त और सादि-सान्त ये तीन विकल्प प्राप्त होते हैं। इनमेंसे अभव्योंके अनादि-अनन्त विकल्प होता है। जो अनादि मिथ्या-दृष्टि जीव या उपशान्तमोह गुणस्थानको नहीं प्राप्त हुआ सादि मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रको प्राप्त करके तथा श्रेणी पर आरोहण करके उपशान्त मोह या क्षीणमोह हो जाते हैं, उनके अनादि-सान्त विकल्प होता है। तथा उपशान्त मोह गुणस्थानसे पतित हुए जीवोंके सादि-सान्त विकल्प होता है। कोष्टकमें जो इस भंगका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण बतलाया है सो वह कालके सादि-सान्त विकल्पकी अपेक्षासे ही बतलाया है,

प्रकृतिस्थानोंके परस्पर संवेध का और उसके स्वामित्वका कथन किया। अब उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा बन्ध, उदय और सत्त्व प्रकृतिस्थानोंके परस्पर संवेधका कथन करते हैं। उसमें भी पहले ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मकी अपेक्षा कथन करते हैं—

बंधोदयसंतंसा नाणावरणंतराइए पंच।
बंधोवरमे वि तहा उदसंता हुति पंचेव ॥ ६ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण और अन्तराय इन दोनोंमें से प्रत्येककी अपेक्षा पाँच प्रकृतियोंका बन्ध, पाँच प्रकृतियोंका उदय और पाँच प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। तथा बन्धके अभावमें भी उदय और सत्त्व पाँच पाँच प्रकृतियोंका होता है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण और उसकी पाँचों उत्तर प्रकृतियोंका बन्ध सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक होता है। इसी प्रकार अन्तराय और उसकी पाँचों उत्तर प्रकृतियोंका बन्ध सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक होता है, क्योंकि आगममें जो सेंतालीस ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियाँ गिनाई हैं, उनमें ज्ञानावरणकी पाँच और अन्तरायकी पाँच इस प्रकार ये दस प्रकृतियाँ भी सम्मिलित हैं। तथा इनकी बन्ध व्युच्छित्ति दसवें गुणस्थानके अन्तमें और उदय तथा सत्त्वव्युच्छित्ति बारहवें गुणस्थानके अन्तमें होती है। अतः इन दोनों कर्मोंमें से प्रत्येककी अपेक्षा दसवें गुणस्थान तक पाँच प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है। तथा ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें पाँच प्रकृतिक

(१) 'सेगं नाणंतराएसु ॥ ६ ॥ नाणंतरायबन्धा आसुहुमं उदयसंतया ...॥ ७ ॥'—पञ्चसं० सप्तति०। 'बंधोदयकम्मंसा णाणावरणंतरायिए पंच। ... वि तहा उदयंसा होंति पंचेव ॥'—गो० कर्म० गा० ६३०।

उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है। इस प्रकार पाँचों ज्ञानावरण और पाँचों अन्तरायकी अपेक्षा संवेधभंग कुल दो प्राप्त होते हैं।

उक्त संवेध भंगोंका ज्ञापक कोष्ठक

[७]

भंग	बन्ध प्र०	उदय प्र०	सत्त्व प्र०	गुण०	काल	
					जघन्य	उत्कृष्ट
१	५	५ प्र०	५ प्र०	१से१०	अन्तर्मु०	देशोन अपार्ध पु० प०
२	०	५ प्र०	५ प्र०	११ व १२	एक समय	अन्तर्मु०

कालका विचार करते समय पाँच प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व इस भंगके अनादि-अनन्त, अनादि सान्त और सादि-सान्त ये तीन विकल्प प्राप्त होते हैं। इनमेंसे अभव्योंके अनादि-अनन्त विकल्प होता है। जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव या उपशान्तमोह गुणस्थानको नहीं प्राप्त हुआ सादि मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रको प्राप्त करके तथा श्रेणी पर आरोहण करके उपशान्त मोह या क्षीणमोह हो जाते हैं, उनके अनादि-सान्त विकल्प होता है। तथा उपशान्त मोह गुणस्थानसे पतित हुए जीवोंके सादि-सान्त विकल्प होता है। कोष्टकमें जो इस भंगका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण बतलाया है सो वह कालके सादि-सान्त विकल्पकी अपेक्षासे ही बतलाया है,

प्रकृतिस्थानोंके परस्पर संवेध का और उसके स्वामित्वका कथन किया। अब उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा बन्ध, उदय और सत्त्व प्रकृतिस्थानोंके परस्पर संवेधका कथन करते हैं। उसमें भी पहले ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मकी अपेक्षा कथन करते हैं—

बंधोदयसंतंसा नाणावरणंतराइए पंच।
बंधोवरमे वि तहा उदसंता हुंति पंचेव ॥ ६ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण और अन्तराय इन दोनोंमें से प्रत्येककी अपेक्षा पाँच प्रकृतियोंका बन्ध, पाँच प्रकृतियोंका उदय और पाँच प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। तथा बन्धके अभावमें भी उदय और सत्त्व पाँच पाँच प्रकृतियोंका होता है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण और उसकी पाँचों उत्तर प्रकृतियोंका बन्ध सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक होता है। इसी प्रकार अन्तराय और उसकी पाँचों उत्तर प्रकृतियोंका बन्ध सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक होता है, क्योंकि आगममें जो सेंतालीस ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियाँ गिनाई हैं, उनमें ज्ञानावरणकी पाँच और अन्तरायकी पाँच इस प्रकार ये दस प्रकृतियाँ भी सम्मिलित हैं। तथा इनकी बन्ध व्युच्छित्ति दसवें गुणस्थानके अन्तमें और उदय तथा सत्त्वव्युच्छित्ति बारहवें गुणस्थानके अन्तमें होती है। अतः इन दोनों कर्मोंमें से प्रत्येककी अपेक्षा दसवें गुणस्थान तक पाँच प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है। तथा ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें पाँच प्रकृतिक

(१) 'सेगं नाणंतराएसु ॥ ६ ॥ नाणंतरायबन्धा आसुहुमं उदयसंतया ....॥ ७ ॥'—पञ्चसं० सप्तति०। 'बंधोदयकम्मंसा णाणावरणंतरायिए पंच। ...रमे वि तहा उदयंसा होंति पंचेव ॥'—गो० कर्म० गा० ६३०।

उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग होता है। इस प्रकार पाँचों ज्ञानावरण और पाँचों अन्तरायकी अपेक्षा संवेधभंग कुल दो प्राप्त होते हैं।

उक्त संवेध भंगोंका ज्ञापक कोष्ठक

[७]

भंग	बन्ध प्र०	उदय प्र०	सत्त्व प्र०	गुण०	काल	
					जघन्य	उत्कृष्ट
१	५	५ प्र०	५ प्र०	१से१०	अन्तर्मु०	देशोन अपार्ध पु० प०
२	०	५ प्र०	५ प्र०	११ व १२	एक समय	अन्तर्मु०

कालका विचार करते समय पाँच प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व इस भंगके अनादि-अनन्त, अनादि सान्त और सादि-सान्त ये तीन विकल्प प्राप्त होते हैं। इनमेंसे अभव्योंके अनादि-अनन्त विकल्प होता है। जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव या उपशान्तमोह गुणस्थानको नहीं प्राप्त हुआ सादि मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रको प्राप्त करके तथा श्रेणी पर आरोहण करके उपशान्त मोह या क्षीणमोह हो जाते हैं, उनके अनादि-सान्त विकल्प होता है। तथा उपशान्त मोह गुणस्थानसे पतित हुए जीवोंके सादि-सान्त विकल्प होता है। कोष्टकमें जो इस भंगका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण बतलाया है सो वह कालके सादि-सान्त विकल्पकी अपेक्षासे ही बतलाया

क्योंकि जो जीव उपशान्तमोह गुणस्थानसे च्युत होकर अन्त-र्मुहूर्त कालके भीतर पुनः उपशान्तमोही या क्षीणमोही हो जाता है उसके उक्त भंगका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है। तथा जो जीव अपार्ध पुद्गल परावर्त कालके प्रारम्भमें सम्यग्दृष्टि होकर और उपशमश्रेणी पर चढ़कर उपशान्तमोह हो जाता है। अनन्तर जब संसारमें रहनेका काल अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, तब क्षपक-श्रेणी पर चढ़कर क्षीणमोह हो जाता है. उसके उक्त भंगका उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण प्राप्त होता है। तथा पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व इस दूसरे भंगका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि यह भंग उपशान्त मोह गुणस्थानमें भी होता है और उपशान्तमोह गुण-स्थानका जघन्य काल एक समय है, अतः इस भंगका जघन्य काल एक समय बन जाता है। तथा उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुण-स्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, अतः इस भंगका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त बन जाता है।

५. दर्शनावरण कर्मके संवेध भंग

अब दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा बन्धादि स्थानों का कथन करने के लिये आगेकी गाथा कहते हैं

बंधस्स य संतस्स य पगइट्ठाणाइं तिन्नि तुल्लाइं।
उदयट्ठाणाइं दुवे चउ पणगं दंसणावरणे ॥ ७ ॥

(१) [illegible]

अर्थ—दर्शनावरण कर्मके नौ प्रकृतिक, छहप्रकृतिक और चार प्रकृतिक ये तीन बन्धस्थान और ये ही तीन सत्त्वस्थान होते हैं। किन्तु उदयस्थान चारप्रकृतिक और पाँच प्रकृतिक ये दो होते हैं।

विशेषार्थ—दर्शनावरण कर्मके बन्धस्थान तीन हैं—नौप्रकृतिक, छहप्रकृतिक और चार प्रकृतिक। नौप्रकृतिक बन्धस्थानमें दर्शनावरण कर्मको सब उत्तर प्रकृतियोंका बन्ध होता है। छह प्रकृतिक बन्धस्थान में स्त्यानर्धि तीनको छोड़ कर छह प्रकृतियों का बन्ध होता है और चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें निद्रा आदि पाँच प्रकृतियोंको छोड़कर शेष चार प्रकृतियोंका बन्ध होता है। नौ प्रकृतिक बन्धस्थान मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थानमें होता है। छह प्रकृतिक बन्धस्थान सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अपूर्वकरण गुणस्थानके पहले भाग तक होता है और चार प्रकृतिक बन्धस्थान अपूर्वकरण गुणस्थानके दूसरे भागसे लेकर सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक होता है। नौ प्रकृतिक बन्धस्थानके कालकी अपेक्षा तीन भंग हैं—अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। इनमें से अनादि-अनन्त विकल्प अभव्योंके होता है, क्योंकि अभव्योंके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानका कभी भी विच्छेद नहीं होता। अनादि-सान्त विकल्प भव्योंके होता है, क्योंकि इनके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानका कालान्तरमें विच्छेद पाया जाता है।

णत्थि।""॥४५९॥ णव सासणो त्ति बंधो छच्चेव अपुव्वपढमभागो त्ति। चत्तारि होंति तत्तो सुहुमकसायस्स चरिमो त्ति ॥४६०॥ खीणो त्ति चारि उदया पंचसु णिद्दासु दोसु णिद्दासु। एक्के उदयं पत्ते खीणदुचरिमो त्ति पंचुदया ॥४६१॥ मिच्छादुवसंतो त्ति य अणियट्टीखवगपढमभागो त्ति। णवसत्ता खीणस्स दुचरिमो त्ति य छच्चदुचरिमे ॥४६२॥'—गो० कर्म०।

तथा सादि-सान्त विकल्प सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्वको प्राप्त हुए जीवों के पाया जाता है। इनमेंसे सादि-सान्त नौ प्रकृतिक बंधस्थानका जघन्य काल अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध-पुद्गलपरावर्त प्रमाण है। सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ जो जीव अन्तर्मुहूर्त कालके पश्चात् सम्यग्दृष्टि हो जाता है उसके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त देखा जाता है। तथा जो जीव अपार्ध पुद्गलपरावर्त कालके प्रारम्भमें सम्यग्दृष्टि होकर और अन्तर्मुहूर्तकाल तक सम्यक्त्वके साथ रह कर मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाता है। अनन्तर अपार्ध पुद्गल परावर्त कालमें अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर जो पुनः सम्यग्दृष्टि हो जाता है उसके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण प्राप्त होता है। छह प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तमुहूर्त है, क्योंकि जो जीव सकल संयमके साथ सम्यक्त्व को प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी पर चढ़कर अपूर्वकरणके प्रथम भागको व्यतीत करके चार प्रकृतियोंका बन्ध करने लगता है उसके छह प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त देखा जाता है। या जो उपशम सम्यग्दृष्टि अति स्वल्प काल तक उपशम सम्यक्त्वके साथ रहकर पीछे मिथ्यात्वमें चला जाता है उसके भी छः प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अंतर्मुहूर्त देखा जाता है। तथा छः प्रकृतिक बंधस्थानका उत्कृष्ट काल एकसौ बत्तीस सागर है, क्योंकि मध्यमें सम्यग्मिथ्यात्वसे अन्तरित होकर सम्यक्त्वके साथ रहनेका उत्कृष्ट काल ... ही है। अनन्तर यह जीव या तो मिथ्यात्वको प्राप्त हो ... है या क्षपकश्रेणी पर चढ़कर और सयोगिकेवली होकर ... से सिद्ध हो जाता है। चार प्रकृतिक बन्धस्थानका ... काल एक समय है, क्यों कि जिस जीवने अपूर्वकरणके

द्वितीय भागमें प्रविष्ट होकर एक समय तक चार प्रकृतियों का बन्ध किया और मर कर दूसरे समय में देव हो गया उसके चार प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल एक समय देखा जाता है। तथा चार प्रकृतिक बन्धस्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि उपशम श्रेणी या क्षपकश्रेणी के पूरे कालका योग अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं होता। तिस पर इस स्थानका बन्ध तो अपूर्वकरणके द्वितीय भागसे लेकर सूक्ष्मसम्परायके अन्तिम समय तक ही होता है।

दर्शनावरण कर्मके सत्त्वस्थान भी तीन ही हैं—नौप्रकृतिक, छः प्रकृतिक और चार प्रकृतिक। नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें दर्शनावरण कर्मकी सब उत्तर प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। छः प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें स्त्यानर्द्धि तीनको छोड़कर शेष छः प्रकृतियोंका सत्त्व होता है और चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें निद्रादि पाँचको छोड़कर शेष चार का सत्त्व होता है। नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थान उपशान्तमोह गुणस्थान तक होता है। छह प्रकृतिक सत्त्वस्थान क्षपक अनिवृत्ति बादरसम्परायके दूसरे भागसे लेकर क्षीणमोह गुणस्थानके उपान्त्य समयतक होता है और चार प्रकृति सत्त्वस्थान क्षीणमोह गुणस्थान के अन्तिम समयमें होता है। नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थानके कालकी अपेक्षा दो भंग हैं—अनादि-अनंत और अनादि-सांत। इनमेंसे पहला विकल्प अभव्योंके होता है, क्योंकि इनके नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थान का कभी विच्छेद नहीं पाया जाता। दूसरा विकल्प भव्योंके होता है, क्योंकि इनके कालान्तर में इस स्थानका विच्छेद देखा जाता है। यहां सादि सान्त यह विकल्प सम्भव नहीं, क्योंकि नौ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका विच्छेद क्षपकश्रेणी में होता है परन्तु क्षपक श्रेणीसे जीवका प्रतिपात नहीं होता। छह प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि यह स्थान क्षपक अनिवृत्तिके दूसरे भागसे लेकर क्षीणमोहके उपान्त्य समय

होता है जिसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। तथा चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय है, क्योंकि यह स्थान क्षीणमोह गुणस्थानके अन्तिम समयमें ही पाया जाता है।

दर्शनावरण कर्मके उदयस्थान दो हैं—चार प्रकृतिक और पाँच प्रकृतिक। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण इन चारका उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक निरंतर पाया जाता है अतः इन चारोंका समुदायरूप एक उदयस्थान है। इन चार प्रकृतियों में निद्रादि पाँचमेंसे किसी एक प्रकृतिके मिला देने पर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ छः प्रकृतिक आदि उदय स्थान सम्भव नहीं, क्योंकि निद्रादिकमेंसे दो या दोसे अधिक प्रकृतियोंका एक साथ उदय नहीं होता किन्तु एक कालमें एक प्रकृतिका ही उदय होता है। दूसरे निद्रादिक ध्रुवोदय प्रकृतियाँ नहीं हैं, क्योंकि उदय योग्य कालके प्राप्त होने पर ही इनका उदय होता है, अतः यह पाँच प्रकृतिक उदयस्थान कदाचित् प्राप्त होता है।

अब दर्शनावरण कर्मके बन्ध, उदय और सत्त्वस्थानों के परस्पर संवेधसे उत्पन्न हुए भंगों का कथन करते हैं—

वीयावरणे नवबंधगेसु चउ पंच उदय नव संता।
छच्चउबंधे चेवं चउ बंधुदए छलंसा य॥ ८॥
उवरयबंधे चउ पण नवंस चउरुदय छच्च चउसंता।

(१) 'चउपणउदओ बंधेसु तिसु वि अब्बंधगे वि उवसंते। नव अट्ठेवं उइण्णसंताइ चउखीणे॥ खवगे सुहुमंमि चऊबन्धंमि अबंधगंमि। छरसंतं चउरुदओ पंचण्ह वि केइ इच्छंति॥'—पञ्चसं० सप्तति० १३, १४। 'विदियावरणे णवबंधगेसु चदुपंचउदय णव सत्ता। छब्बंध- (छच्चउबंधे) एवं तह चदुबंधे छडंसा य॥ उवरदबंधे चदुपंच उदय छच्च सत्त चदु जुगलं।'—गो० कर्म० गा० ६३१, ६३२।

अर्थ—दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियोंका बन्ध होते समय चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और सत्ता नौ प्रकृतियोंकी होती है। छः और चार प्रकृतियों का बन्ध होते समय उदय और सत्ता पहलेके समान होती है। चार प्रकृतियोंका बन्ध और चार प्रकृतियोंका उदय रहते हुए सत्ता छः प्रकृतियोंकी होती है। तथा बन्धका विच्छेद हो जाने पर चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय रहते हुए सत्ता नौकी होती है और चार प्रकृतियों का उदय रहते हुए सत्ता छह और चार की होती है॥

विशेषार्थ—पहले और दूसरे गुणस्थानमें दर्शनावरण कर्म की नौ प्रकृतियोंका बन्ध, चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और नौ प्रकृतियोंकी सत्ता होती है। यहाँ चार प्रकृतिक उदयस्थान में चक्षुदर्शनावरण आदि चार ध्रुवोदय प्रकृतियाँ ली गई हैं। तथा इनमें निद्रादिक पाँच प्रकृतियोंमें से किसी एक प्रकृतिके मिला देने पर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार नौ प्रकृतिक बन्ध और नौ प्रकृतिक सत्त्वके रहते हुए उदयकी उपेक्षा दो भंग होते हैं—(१) नौप्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा (२) नौ प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। इनमें से पहला भंग निद्रादिमेंसे किसी एकके उदयके बिना होता है और दूसरा भंग निद्रादिकमेंसे किसी एकके उदयके सद्भाव में होता है।

'छः प्रकृतिक बन्ध और चार प्रकृतिक बन्धके होते हुए उदय और सत्ता पहलेके समान होती है।' इसका यह तात्पर्य है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर उपशामक अपूर्वकरण गुणस्थान के पहले भाग तक जीवोंके छः प्रकृतियोंका बन्ध चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और नौ प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। तथा

होता है जिसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। तथा चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय है, क्योंकि यह स्थान क्षीणमोह गुणस्थानके अन्तिम समयमें ही पाया जाता है।

दर्शनावरण कर्मके उदयस्थान दो हैं—चार प्रकृतिक और पाँच प्रकृतिक। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण इन चारका उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक निरंतर पाया जाता है अतः इन चारोंका समुदायरूप एक उदयस्थान है। इन चार प्रकृतियों में निद्रादि पाँचमेंसे किसी एक प्रकृतिके मिला देने पर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ छः प्रकृतिक आदि उदय स्थान सम्भव नहीं, क्योंकि निद्रादिकमेंसे दो या दोसे अधिक प्रकृतियोंका एक साथ उदय नहीं होता किन्तु एक कालमें एक प्रकृतिका ही उदय होता है। दूसरे निद्रादिक ध्रुवोदय प्रकृतियाँ नहीं हैं, क्योंकि उदय योग्य कालके प्राप्त होने पर ही इनका उदय होता है, अतः यह पाँच प्रकृतिक उदयस्थान कदाचित् प्राप्त होता है।

अब दर्शनावरण कर्मके बन्ध, उदय और सत्त्वस्थानों के परस्पर संवेधसे उत्पन्न हुए भंगों का कथन करते हैं—

बीयावरणे नवबंधगेसु चउ पंच उदय नव संता।
छच्चउबंधे चेवं चउ बंधुदए छलंसा य ॥ ८ ॥
उवरयबंधे चउ पण नवंस चउरुदय छच्च चउसंता।

---

(१) 'चउपणउदओ बंधेसु तिसु वि अब्बंधगे वि उवसंते। नव संतं अट्ठेवं उइण्णसंताइ चउखीणे॥ खवगे सुहुमंमि चउबन्धंमि अबंधगंमि खीणंमि। छस्संतं चउरुदओ पंचण्ह वि केइ इच्छंति॥'—पञ्चसं० सप्तति० १३, १४। 'विदियावरणे णवबंधगेसु चदुपंचउदय णव सत्ता। छब्बंध- (छच्चउबंधे) एवं तह चदुबंधे छडंसा य॥ उवरदबंधे चदुपंच उदय सत्त चदु जुगलं।'—गो० कर्म० गा० ६३१, ६३२।

अर्थ—दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियोंका बन्ध होते स
चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और सत्ता नौ प्रकृतिय
होती है। छः और चार प्रकृतियों का बन्ध होते समय उ
और सत्ता पहलेके समान होती है। चार प्रकृतियोंका बन्ध अ
चार प्रकृतियोंका उदय रहते हुए सत्ता छः प्रकृतियोंकी होती है
तथा बन्धका विच्छेद हो जाने पर चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय
रहते हुए सत्ता नौकी होती है और चार प्रकृतियों का उदय रहते
हुए सत्ता छह और चार की होती है॥

विशेषार्थ—पहले और दूसरे गुणस्थानमें दर्शनावरण कर्म
की नौ प्रकृतियोंका बन्ध, चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और
नौ प्रकृतियोंकी सत्ता होती है। यहाँ चार प्रकृतिक उदयस्थान में
चक्षुदर्शनावरण आदि चार ध्रुवोदय प्रकृतियाँ ली गई हैं। तथा
इनमें निद्रादिक पाँच प्रकृतियोंमें से किसी एक प्रकृतिके मिला देने
पर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार नौ
प्रकृतिक बन्ध और नौ प्रकृतिक सत्त्वके रहते हुए उदयकी उपेक्षा
ी भंग होते हैं—(१) नौप्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय
ौर नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा (२) नौ प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृ-
क उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। इनमें से पहला भंग निद्रा-
ोंसे किसी एकके उदयके बिना होता है और दूसरा भंग निद्रा-
मेंसे किसी एकके उदयके सद्भाव में होता है।

'छः प्रकृतिक बन्ध और चार प्रकृतिक बन्धके होते हुए उदय
सत्ता पहलेके समान होती है।' इसका यह तात्पर्य है कि
मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर उपशामक अपूर्वकरण गुणस्थान
े भाग तक जीवोंके छः प्रकृतियोंका बन्ध चार या पाँच
ोंका उदय और नौ प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। तथा

होता है जिसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। तथा चार प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय है, क्योंकि यह स्थान क्षीणमोह गुणस्थानके अन्तिम समयमें ही पाया जाता है।

दर्शनावरण कर्मके उदयस्थान दो हैं—चार प्रकृतिक और पाँच प्रकृतिक। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण इन चारका उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक निरंतर पाया जाता है अतः इन चारोंका समुदायरूप एक उदयस्थान है। इन चार प्रकृतियों में निद्रादि पाँचमेंसे किसी एक प्रकृतिके मिला देने पर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ छः प्रकृतिक आदि उदय स्थान सम्भव नहीं, क्योंकि निद्रादिकमेंसे दो या दोसे अधिक प्रकृतियोंका एक साथ उदय नहीं होता किन्तु एक कालमें एक प्रकृतिका ही उदय होता है। दूसरे निद्रादिक ध्रुवोदय प्रकृतियाँ नहीं हैं, क्योंकि उदय योग्य कालके प्राप्त होने पर ही इनका उदय होता है, अतः यह पाँच प्रकृतिक उदयस्थान कदाचित् प्राप्त होता है।

अब दर्शनावरण कर्मके बन्ध, उदय और सत्त्वस्थानों के परस्पर संवेधसे उत्पन्न हुए भंगों का कथन करते हैं—

वीयावरणे नवबंधगेसु चउ पंच उदय नव संता।
छच्चउबंधे चेवं चउ बंधुदए छलंसा य ॥ ८ ॥
उवरयबंधे चउ पण नवंस चउरुदय छच्च चउसंता।

(१) 'चउपणउदओ बंधेसु तिसु वि अब्बंधगे वि उवसंते। नव संतं अट्ठेवं उइण्णसंताइ चउखीणे ॥ खवगे सुहुमंमि चउबन्धंमि अबंधगंमि खीणम्मि। छस्संतं चउरुदओ पंचण्ह वि केइ इच्छंति ॥'—पञ्चसं० सप्तति० गा० १३, १४। 'विदियावरणे णववंधगेसु चदुपंचउदय णव सत्ता। छब्बंध- (छच्चउबंधे) एवं तह चदुबंधे छडंसा य ॥ उवरदबंधे चदुपंच उदय छच्च सत्त चदु जुगलं।'—गो० कर्म० गा० ६३१, ६३२।

अर्थ—दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियोंका बन्ध होते समय चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और सत्ता नौ प्रकृतियोंकी होती है। छः और चार प्रकृतियों का बन्ध होते समय उदय और सत्ता पहलेके समान होती है। चार प्रकृतियोंका बन्ध और चार प्रकृतियोंका उदय रहते हुए सत्ता छः प्रकृतियोंकी होती है। तथा बन्धका विच्छेद हो जाने पर चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय रहते हुए सत्ता नौकी होती है और चार प्रकृतियों का उदय रहते हुए सत्ता छह और चार की होती है॥

विशेषार्थ—पहले और दूसरे गुणस्थानमें दर्शनावरण कर्म नौ प्रकृतियोंका बन्ध, चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और प्रकृतियोंकी सत्ता होती है। यहाँ चार प्रकृतिक उदयस्थान में दर्शनावरण आदि चार ध्रुवोदय प्रकृतियाँ ली गई हैं। तथा निद्रादिक पाँच प्रकृतियोंमें से किसी एक प्रकृतिके मिला देने ाँच प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार नौ क बन्ध और नौ प्रकृतिक सत्त्वके रहते हुए उदयकी उपेक्षा ग होते हैं—(१) नौप्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय ौ प्रकृतिक सत्त्व तथा (२) नौ प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृ-दय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। इनमें से पहला भंग निद्रा-दिमेंसे किसी एकके उदयके विना होता है और दूसरा भंग निद्रा-दिकमेंसे किसी एकके उदयके सद्भाव में होता है।

'छः प्रकृतिक बन्ध और चार प्रकृतिक बन्धके होते हुए उदय और सत्ता पहलेके समान होती है।' इसका यह तात्पर्य है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर उपशामक अपूर्वकरण गुणस्थान के पहले भाग तक जीवोंके छः प्रकृतियोंका बन्ध चार या प प्रकृतियोंका उदय और नौ प्रकृतियोंका सत्त्व होता है।

उपशामक अपूर्वकरण गुणस्थानके दूसरे भागसे लेकर सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान तकके जीवोंके चार प्रकृतियोंका बन्ध, चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और नौ प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। यहाँ इन दोनों स्थानोंकी अपेक्षा कुल भंग चार होते हैं—(१) छः प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। (२) छः प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। (३) चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा (४) चार प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। यहाँ इतनी विशेषता है कि स्त्यानर्द्धि तीनका उदय प्रमत्तसंयत गुणस्थानके अन्तिम समय तक ही होता है, अतः इस गुणस्थान तक निद्रादि पाँचमें से किसी एकका उदय और अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें निद्रा और प्रचला इन दोमें से किसी एकका उदय कहना चाहिये। किन्तु क्षपकश्रेणीमें कुछ विशेषता है। बात यह है कि क्षपक जीव अत्यन्त विशुद्ध होता है, अतः उसके निद्रा और प्रचला प्रकृतिका उदय नहीं होता और यही सबब है कि क्षपकश्रेणी में पूर्वोक्त चार भंग न प्राप्त होकर पहला और तीसरा ये दो भङ्ग ही प्राप्त होते हैं। इनमेंसे छह प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व यह पहला भंग क्षपक जीवों के भी अपूर्वकरणके प्रथम भाग तक होता है। तथा चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व यह भंग क्षपक जीवों के अनिवृत्ति वादरसम्परायके संख्यात भागों तक होता है। यहाँ स्त्यानर्द्धित्रिक का क्षय हो जानेसे क्षपक जीवोंके आगे नौ प्रकृतियों का सत्त्व नहीं रहता, अतः इन क्षपक जीवोंके अनिवृत्तिवादरसम्परायके संख्यात भागोंसे लेकर सूक्ष्मसम्पराय

गुणस्थानके अन्तिम समय तक चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग और होता है जो उपर्युक्त चार भंगोंसे पृथक् है। इस प्रकार दर्शनावरणकी उत्तर प्रकृतियोंका यथासम्भव बन्ध रहते हुए कहाँ कितने भंग सम्भव हैं इसका विचार किया।

अब उदय और सत्ताकी अपेक्षा दर्शनावरण कर्मके जहाँ जितने भंग सम्भव हैं इसका विचार करते हैं। बात यह है कि उपशान्तमोह गुणस्थानमें दर्शनावरणकी सभी उत्तर प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है और उदय विकल्पसे चार या पाँच का पाया जाता है, अतः यहाँ (१) चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व या (२) पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं। किन्तु क्षीणमोह गुणस्थानमें स्त्यानर्द्धित्रिकका अभाव है, क्योंकि इनका क्षय क्षपक अनिवृत्तिकरणमें हो जाता है। दूसरे इसके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला का भी क्षय हो जाता है जिससे अन्तिम समयमें चार प्रकृतियोंका ही सत्त्व रहता है। तथा क्षपकश्रेणीमें निद्रादिकका उदय नहीं होता इसका उल्लेख पहले ही कर आये हैं, अतः यहाँ (१) चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व तथा (२) चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं। इनमेंसे पहला भंग क्षीणमोहके उपान्त्य समय तक और दूसरा भंग क्षीणमोहके अन्तिम समयमें होता है।

अब सरलता से ज्ञान होनेके लिये इन सब भंगोंका को
देते हैं—

उपशामक अपूर्वकरण गुणस्थानके दूसरे भागसे लेकर सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान तकके जीवोंके चार प्रकृतियोंका बन्ध, चार या पाँच प्रकृतियोंका उदय और नौ प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। यहाँ इन दोनों स्थानोंकी अपेक्षा कुल भंग चार होते हैं—(१) छः प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। (२) छः प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। (३) चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व तथा (४) चार प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व। यहाँ इतनी विशेषता है कि स्त्यानर्द्धि तीनका उदय प्रमत्तसंयत गुणस्थानके अन्तिम समय तक ही होता है, अतः इस गुणस्थान तक निद्रादि पाँचमें से किसी एकका उदय और अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें निद्रा और प्रचला इन दोमें से किसी एकका उदय कहना चाहिये। किन्तु क्षपकश्रेणीमें कुछ विशेषता है। बात यह है कि क्षपक जीव अत्यन्त विशुद्ध होता है, अतः उसके निद्रा और प्रचला प्रकृतिका उदय नहीं होता और यही सबब है कि क्षपकश्रेणी में पूर्वोक्त चार भंग न प्राप्त होकर पहला और तीसरा ये दो भङ्ग ही प्राप्त होते हैं। इनमेंसे छह प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व यह पहला भंग क्षपक जीवों के भी अपूर्वकरणके प्रथम भाग तक होता है। तथा चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व यह भंग क्षपक जीवों के अनिवृत्ति बादरसम्परायके संख्यात भागों तक होता है। यहाँ स्त्यानर्द्धित्रिक का क्षय हो जानेसे क्षपक जीवोंके आगे नौ प्रकृतियों का सत्त्व नहीं रहता, अतः इन क्षपक जीवोंके अनिवृत्तिबादरसम्परायके संख्यात भागोंसे लेकर सूक्ष्मसम्पराय

गुणस्थानके अन्तिम समय तक चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग और होता है जो उपर्युक्त चार भंगोंसे पृथक् है। इस प्रकार दर्शनावरणकी उत्तर प्रकृतियोंका यथासम्भव बन्ध रहते हुए कहाँ कितने भंग सम्भव हैं इसका विचार किया।

अब उदय और सत्ताकी अपेक्षा दर्शनावरण कर्मके जहाँ जितने भंग सम्भव हैं इसका विचार करते हैं। बात यह है कि उपशान्तमोह गुणस्थानमें दर्शनावरणकी सभी उत्तर प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है और उदय विकल्पसे चार या पाँच का पाया जाता है, अतः यहाँ (१) चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व या (२) पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं। किन्तु क्षीणमोह गुणस्थानमें स्त्यानर्द्धित्रिकका अभाव है, क्योंकि इनका क्षय क्षपक अनिवृत्तिकरणमें हो जाता है। दूसरे इसके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला का भी क्षय हो जाता है जिससे अन्तिम समयमें चार प्रकृतियोंका ही सत्त्व रहता है। तथा क्षपकश्रेणीमें निद्रादिकका उदय नहीं होता इसका उल्लेख पहले ही कर आये हैं, अतः यहाँ (१) चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व तथा (२) चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व ये दो भंग होते हैं। इनमेंसे पहला भंग क्षीणमोहके उपान्त्य समय तक और दूसरा भंग क्षीणमोहके अन्तिम समयमें होता है।

अब सरलता से ज्ञान होनेके लिये इन सब भंगोंका कोष्टक देते हैं—

[८]

अनु०	बन्ध प्र०	उदय प्र०	सत्त्व प्र०	गुणस्थान
१	९ प्र०	४ प्र०	९ प्र०	१, २
२	९ प्र०	५ प्र०	९ प्र०	१, २
३	६ प्र०	४ प्र०	९ प्र०	३, ४, ५, ६, ७, ८
४	६ प्र०	५ प्र०	९ प्र०	३, ४, ५, ६, ७, ८
५	४ प्र०	४ प्र०	९ प्र०	८, ९, १० दोनों श्रेणियों में
६	४ प्र०	५ प्र०	९ प्र०	८, ९, १० उप० श्रे०
७	४ प्र०	४ प्र०	६ प्र०	९, १० क्षप० श्रे०
८	०	४ प्र०	९ प्र०	उपशान्तमोह
९	०	५ प्र०	९ प्र०	उपशान्तमोह
१०	०	४ प्र०	६ प्र०	क्षीणमोह उपान्त्य समयतक
११	०	४ प्र०	४ प्र०	क्षीणमोह अन्तिम समयमें

सूचना—पाँचवाँ भंग जो दोनों श्रेणियों में बतलाया है सो क्षपकश्रेणीमें इसे ९ वें गुणस्थानके संख्यात भागों तक ही जानना चाहिये। इसके आगे क्षपकश्रेणीमें सातवाँ भंग प्रारम्भ हो जाता है।

यहाँ दर्शनावरण कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंके जो ग्यारह संवेध भंग बतलाये गये हैं उनमें (१) चार प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व (२) चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व तथा (३) चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्त्व ये तीन भंग भी सम्मिलित हैं। इनमें से पहला भंग क्षपकश्रेणीके नौवें और दसवें गुणस्थानमें होता है और दूसरा तथा तीसरा भंग क्षीणमोह गुणस्थानमें होता है। इससे मालूम पड़ता है कि इस ग्रन्थके कर्ता का यही एक मत रहा है कि क्षपकश्रेणीमें निद्रा और प्रचला प्रकृतिका उदय नहीं होता। मलयगिरि आचार्यने सत्कर्म ग्रन्थका एक गाथांश उद्धृत किया है। उसका भी यही भाव है कि 'क्षपकश्रेणी में और क्षीणमोह गुणस्थान में निद्राद्विकका उदय नहीं होता।' कर्मप्रकृतिकार तथा पञ्चसंग्रहके कर्ताका भी यही मत है किन्तु पञ्चसंग्रह के कर्ता 'क्षपकश्रेणीमें और क्षीणमोह गुणस्थान में पाँच प्रकृतिका भी उदय होता है' इस दूसरे मतसे परिचित अवश्य थे। जिसका उल्लेख उन्होंने 'पंचण्ह वि केइ इच्छंति' इस रूपसे किया है। मलयगिरि आचार्यने इसे कर्मस्त-वकारका मत बतलाया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस परम्परामें कर्मस्तवकारके सिवा प्रायः सब कार्मिकोंका यही एक मत रहा है कि क्षपक श्रेणी में और क्षीणमोह गुणस्थानमें निद्रा-द्विकका उदय नहीं होता। किन्तु दिगम्बर परम्परामें सर्वत्र विकल्प वाला मत पाया जाता है। कसायपाहुडकी चूर्णिमें यतिवृषभ

---

(१) 'निद्दादुगस्स उदओ खीणगखवगे परिच्चज्ज।'—मल० सप्तति० टी० पृ० १५८। (२) निद्दापयलाणं खीणरागखवगे परिच्चज्ज॥'—कर्म० उ० गा० १०। (३) देखो ३२ पृष्ठ की टिप्पणी। (४) 'कर्मस्तवकार-मतेन पञ्चानामप्युदयो भवति।'—पञ्च सं० सप्तति० टी० गा० १४।

आचार्य केवल इतना ही संकेत करते हैं कि 'क्षपकश्रेणी पर चढ़ने वाला जीव आयु और वेदनीय कर्मको छोड़कर उदय प्राप्त शेष सब कर्मों की उदीरणा करता है।' पर इसपर टीका करते हुए वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि क्षपकश्रेणिवाला जीव पाँच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरणका नियमसे वेदक है किन्तु निद्रा और प्रचलाका कदाचित् वेदक है, क्योंकि इनका कदाचित् अव्यक्त उदय होनेमें कोई विरोध नहीं आता। अमितिगति आचार्यने भी अपने पञ्चसंग्रहमें यही मत स्वीकार किया है कि क्षपकश्रेणीमें और क्षीणमोहमें दर्शनावरणकी चार या पांच प्रकृतियोंका उदय होता है। और इसलिये उन्होंने तेरह भंगोंका उल्लेख भी किया है। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका भी यही मत है। दिगम्बर परम्पराकी मान्यतानुसार चार प्रकृतिक बन्ध, पांच प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग तो नौवें और दसवें गुणस्थानमें बढ़ जाता है। तथा पांच प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्त्व यह एक भंग क्षीणमोह गुणस्थानमें बढ़ जाता है। इस प्रकार दर्शनावरण कर्मके संवेध भंगोंका कथन करते समय जो ग्यारह भंग बतलाये हैं उनमें इन दो भंगोंके मिला देने पर दिगम्बर मान्यतानुसार कुल तेरह भंग होते हैं।

---

(१) 'आउगवेदणीयवज्जाणं वेदिज्जमाणाणं कम्माणं पवेसगो।' —क० पा० चु० (क्षपणाधिकार)। (२) पंचण्हं णाणावरणीयाणं चदुण्हं दंसणावरणीयाणं णियमा वेदगो, णिद्दापयलाणं सिया; तासिमवत्तोदयस्स कदाइं संभवे विरोहाभावादो। जयध० (क्षपणाधिकार) (३) 'द्वयोर्नव द्वयोः षट्कं चतुर्षु च चतुष्टयम्। पञ्च पञ्चसु शून्यानि भङ्गाः सन्ति त्रयोदश॥' पञ्च० अमि० श्लो० ३८८। (४) देखो ३२ पृष्ठ की टिप्पणी।

और दोनोंका सत्त्व इस प्रकार बन्धके रहते हुए चार भंग होते हैं। इनमें से प्रारम्भके दो भंग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होते हैं, क्योंकि प्रमत्तसंयतमें असाताकी बन्धव्युच्छित्ति हो जानेसे आगे इसका बन्ध नहीं होता। अतः अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें ये दो भंग नहीं प्राप्त होते। किन्तु अन्तके दो भंग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं, क्योंकि साताका बन्ध सयोगिकेवली गुणस्थान तक ही होता है। तथा बन्धके अभावमें (१) असाताका उदय और दोनोंका सत्त्व, (२) साताका उदय और दोनोंका सत्त्व (३) असाताका उदय और असाताका सत्त्व तथा (४) साताका उदय और साताका सत्त्व ये चार भङ्ग होते हैं। इनमें से प्रारम्भके दो भङ्ग अयोगिकेवली गुणस्थानमें द्विचरम समय तक होते हैं, क्योंकि अयोगिकेवलीके द्विचरम समय तक सत्ता दोनोंकी पाई जाती है। तथा तीसरा और चौथा भङ्ग चरम समयमें होता है। जिसके द्विचरम समयमें साताका क्षय हो गया है उसके अन्तिम समयमें तीसरा भङ्ग पाया जाता है और जिसके द्विचरम समयमें असाताका क्षय हो गया है उसके अन्तिम समयमें चौथा भङ्ग पाया जाता है। इस प्रकार वेदनीय कर्मके कुल भङ्ग आठ होते हैं।

अब उपर्युक्त विशेषताओंके साथ इन भङ्गोंका ज्ञापक कोष्टक देते हैं—

---

(१) 'वेयणिये अट्ठ भंगा ॥'—गो० कर्म० गा० ६५१।

६. वेदनीय कर्मके संवेध भंग

वेदनीय कर्मके दो भेद हैं–साता और असाता। इनमें से एक कालमें किसी एकका वन्ध और किसी एकका ही उदय होता है, क्योंकि ये दोनों परस्पर विरोधिनी प्रकृतियाँ हैं, अतः इनका एक साथ वन्ध और उदय सम्भव नहीं। किन्तु किसी एक प्रकृतिकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होने तक सत्ता दोनों प्रकृतियोंकी पाई जाती है। पर किसी एककी सत्त्वव्युच्छित्ति हो जाने पर किसी एककी ही सत्ता पाई जाती है। इतने कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदनीयकी उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा बन्धस्थान और उदयस्थान सर्वत्र एक प्रकृतिक ही होता है किन्तु सत्त्वस्थान दो प्रकृतिक और एक-प्रकृतिक इस प्रकार दो होते हैं।

अब इनके संवेधभंग बतलाते हैं–(१) असाताका वन्ध, असाताका उदय और दोनोंका सत्त्व (२) असाताका वन्ध, साताका उदय और दोनोंका सत्त्व (३) साताका वन्ध, साताका उदय और दोनोंका सत्त्व (४) साताका वन्ध, असाताका उदय

(१) 'तेरसमछट्ठएसुं सायासायाण वंधवोच्छेओ। संतउइण्णाइ पुणो सायासायाइ सव्वेसु ॥'—पञ्चसं० सप्तति० गा० १७। 'सादासादेक्कदरं बंधुदया होंति संभवट्ठाणे। दो सत्तं जोगि त्ति य चरमे उदयागदं सत्तं ॥' [illegible] कर्म० गा० ६३३। (२) 'वंधइ उइण्णयं चि य इयरं वा दो वि चउभंगो। संतमुइण्णमवंधे दो दोण्णि दुसंत इइ अट्ठ ॥'—पञ्चसं० [illegible] गा० १८। 'छट्ठो त्ति चार भंगा दो भंगा होंति जाव जोगिजिणे। [illegible] जिणे ठाणं पडि वेयणीयस्स ॥'—गो० कर्म० गा० ६३४।

और दोनोंका सत्त्व इस प्रकार बन्धके रहते हुए चार भंग होते हैं। इनमें से प्रारम्भके दो भंग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होते हैं, क्योंकि प्रमत्तसंयतमें असाताकी बन्धव्युच्छित्ति हो जानेसे आगे इसका बन्ध नहीं होता। अतः अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें ये दो भंग नहीं प्राप्त होते। किन्तु अन्तके दो भंग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं, क्योंकि साताका बन्ध सयोगिकेवली गुणस्थान तक ही होता है। तथा बन्धके अभावमें (१) असाताका उदय और दोनोंका सत्त्व, (२) साताका उदय और दोनोंका सत्त्व (३) असाताका उदय और असाताका सत्त्व तथा (४) साताका उदय और साताका सत्त्व ये चार भङ्ग होते हैं। इनमें से प्रारम्भके दो भङ्ग अयोगिकेवली गुणस्थानमें द्विचरम समय तक होते हैं, क्योंकि अयोगिकेवलीके द्विचरम समय तक सत्ता दोनोंकी पाई जाती है। तथा तीसरा और चौथा भङ्ग चरम समयमें होता है। जिसके द्विचरम समयमें साताका क्षय हो गया है उसके अन्तिम समयमें तीसरा भङ्ग पाया जाता है और जिसके द्विचरम समयमें असाताका क्षय हो गया है उसके अन्तिम समयमें चौथा भङ्ग पाया जाता है। इस प्रकार वेदनीय कर्मके कुल भङ्ग आठ होते हैं।

अब उपर्युक्त विशेषताओंके साथ इन भङ्गोंका ज्ञापक कोष्ठक देते हैं—

---

(१) 'वेयणिये अट्ठ भंगा॥'—गो० कर्म० गा० ६५१।

[९]

क्रम नं०	बन्धप्र०	उदयप्र०	सत्त्वप्र०	गुणस्थान
१	अ०	अ०	२	१, २, ३, ४, ५, ६
२	अ०	सा०	२	१, २, ३, ४, ५, ६
३	सा०	अ०	२	१ से १३ तक
४	सा०	सा०	२	१ से १३ तक
५	०	अ०	२	१४ द्विचरम समयतक
६	०	सा०	२	१४ द्विचरम समयतक
७	०	अ०	अ०	१४ चरम समयमें
८	०	सा०	सा०	१४ चरम समयमें

७. आयुकर्मके संवेध भंग

गाथामें की गई प्रतिज्ञाके अनुसार वेदनीय कर्म और उसके संवेध भंगोंका विचार किया। अब आयु कर्मके बन्धादि स्थान और उनके संवेध भङ्गोंका विचार करते हैं—एक पर्यायमें किसी एक आयुका उदय और उसके उदयमें बंधने योग्य किसी एक आयुका ही बन्ध होता है, दो या दोसे अधिकका नहीं, अतः

सास्वादन और अविरतसम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानोंमें होत है, क्योंकि नारकियोंके उक्त तीन गुणस्थानोंमें मनुष्यायुका वन्ध पाया जाता है। तथा उपरत वन्धकालमें (१) नरकायुका उदय और नरक-तिर्यंचायुका सत्त्व तथा (२) नरकायुका उदय और नरक-मनुष्यायुका सत्त्व ये दो भङ्ग होते हैं। नारकियोंके ये दोनों भंग प्रारम्भके चार गुणस्थानोंमें सम्भव हैं, क्योंकि तिर्यंचायुके वन्ध कालके पश्चात् नारकी जीव अविरतसम्यग्दृष्टि या सम्यगिमथ्यादृष्टि हो सकता है, इसलिये तो पहला भंग प्रारम्भके चार गुणस्थानोंमें सम्भव है। तथा अविरतसम्यग्दृष्टि नारकी जीवके भी मनुष्यायुका वन्ध होता है और वन्ध कालके पश्चात् ऐसा जीव सम्यगिमथ्यादृष्टि गुणस्थानको भी प्राप्त हो सकता है इसलिये दूसरा भंग भी प्रारम्भके चार गुणस्थानों में सम्भव है। इस प्रकार नरकगतिमें आयुके अवन्ध, वन्ध और उपरतवन्ध की अपेक्षा कुल पांच भंग होते हैं। यहां इतना विशेष है कि नारकी जीव स्वभावसे ही नरकायु और देवायुका वन्ध नहीं करते हैं, क्योंकि नारकी जीव मरकर नरक और देव पर्यायमें उत्पन्न नहीं होते हैं। ऐसा नियम है। कहा भी है—

'देवा नारगा वा देवेसु नारगेसु वि न उववज्जंति ॥'

अर्थात् देव और नारकी जीव देवों और नारकियों इन [illegible]में नहीं उत्पन्न होते हैं। आशय यह है कि जिस प्रकार [illegible]च[illegible]ति और मनुष्यगतिके जीव मरकर चारों गतियोंमें उत्पन्न

देवगतिमें आयुकर्मकी उक्त विशेषताओंका कोष्ठक—

[११]

क्रम	काल	बन्ध	उदयस्था०	सत्त्वस्था०	गुणस्थान
१	अबन्धकाल	०	दे०	दे०	१, २, ३, ४
२	बन्धकाल	ति०	दे०	दे० ति०	१, २
३	बन्धकाल	म०	दे०	दे० म०	१, २, ४
४	उप० बन्धका०	०	दे०	दे० ति०	१, २, ३, ४
५	उप० बन्धका०	०	दे०	दे० म०	१, २, ३, ४

तिर्यंच गतिमें अबन्धकालमें तिर्यंचायुका उदय और तिर्यंचायुका सत्त्व यह एक भंग होता है जो प्रारम्भके पांच गुणस्थानों में पाया जाता है, क्योंकि तिर्यंचगतिमें शेष गुणस्थान नहीं होते। बन्धकालमें (१) नरकायुका बन्ध तिर्यंचायुका उदय और नरक-तिर्यंचायुका सत्त्व (२) तिर्यंचायुका बन्ध तिर्यंचायुका उदय और तिर्यंच-तिर्यंचायुका सत्त्व (३) मनुष्यायुका बन्ध,

तिर्यंचायुका उदय और मनुष्य-तिर्यंचायुका सत्त्व तथा (४) देवायुका बन्ध, तिर्यंचायुका उदय और देव-तिर्यंचायुका सत्त्व ये चार भंग होते हैं। इनमें से पहला भंग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें होता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर अन्यत्र नरकायु का बन्ध नहीं होता। दूसरा भंग मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थानमें होता है, क्योंकि तिर्यंचायुका बन्ध सास्वादन गुणस्थान तक ही होता है। तीसरा भंग भी मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थान तक ही होता है, क्योंकि तिर्यंच जीव मनुष्यायुका बन्ध मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थानमें ही करते हैं, अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत गुणस्थानमें नहीं। तथा चौथा भंग सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर देशविरत गुणस्थान तक चार गुणस्थानोंमें होता है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें आयु कर्मका बन्ध ही नहीं होता। तथा उपरतबन्धकालमें (१) तिर्यंचायुका उदय और नरक-तिर्यंचायुका सत्त्व (२) तिर्यंचायुका उदय और तिर्यंच-तिर्यंचायुका सत्त्व (३) तिर्यंचायुका उदय और मनुष्य-तिर्यंचायुका सत्त्व तथा (४) तिर्यंचायुका उदय और देव-तिर्यंचायुका सत्त्व ये चार भंग होते हैं। ये चारों भंग प्रारम्भके पांच गुणस्थानोंमें होते हैं, क्योंकि जिस तिर्यंचने नरकायु, तिर्यंचायु या मनुष्यायुका बन्ध कर लिया है उसके द्वितीयादि गुणस्थानोंका पाया जाना सम्भव है। इस प्रकार तिर्यंचगतिमें अबन्ध, बन्ध और उपरतबन्धकी अपेक्षा आयुके कुल नौ भंग होते हैं।

तिर्यंचगतिमें आयुकर्मके उक्त विकल्पोंका कोष्ठक—

[१२]

भंग नं०	काल	बन्ध	उदय	सत्त्व	गुणस्थान
१	अ० का०	०	ति०	ति०	१, २, ३, ४, ५,
२	बन्धकाल	न०	ति०	न० ति०	१
३	बन्धकाल	ति०	ति०	ति० ति०	१, २,
४	बन्धकाल	म०	ति०	म० ति०	१, २
५	बन्धकाल	दे०	ति०	दे० ति०	१, २, ४, ५,
६	उ० बं० का०	०	ति०	ति० न०	१, २, ३, ४, ५
७	उ० बं० का०	०	ति०	ति० ति०	१, २, ३, ४, ५
८	उ० बं० काल	०	ति०	ति० म०	१, २, ३, ४, ५
९	उ० बं० काल	०	ति०	ति० दे०	१, २, ३, ४, ५

तथा मनुष्यगतिमें अबन्धकालमें मनुष्यायुका उदय और मनुष्यायुका सत्त्व यह एक ही भंग होता है जो चौदहों गुणस्थानों सम्भव है, क्योंकि मनुष्योंके यथासम्भव चौदहों गुणस्थान होते हैं। बन्धकालमें (१) नरकायुका बन्ध, मनुष्यायुका उदय

और नरक-मनुष्यायुका सत्त्व (२) तिर्यंचायुका बन्ध, मनुष्यायुका उदय और तिर्यंच-मनुष्यायुका सत्त्व (३) मनुष्यायुका बन्ध, मनुष्यायुका उदय और मनुष्य-मनुष्यायुका सत्त्व तथा (४) देवायुका बन्ध, मनुष्यायुका उदय और देव-मनुष्यायुका सत्त्व ये चार भंग होते हैं। इनमें से पहला भंग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें होता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर अन्यत्र नरकायुका बन्ध सम्भव नहीं। दूसरा भंग मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थानमें होता है, क्योंकि तिर्यंचायुका बन्ध दूसरे गुणस्थान तक ही होता है। तीसरा भंग भी मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थानमें ही पाया जाता है, क्योंकि मनुष्य जीव तिर्यंचायुके समान मनुष्यायुका बन्ध भी दूसरे गुणस्थान तक ही करते हैं। तथा चौथा भंग सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर अप्रमत्तसंयत तक छह गुणस्थानोंमें होता है, क्योंकि मनुष्य गतिमें देवायुका बन्ध अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक पाया जाता है। तथा उपरतबन्धकालमें (१) मनुष्यायुका उदय और नरक-मनुष्यायुका सत्त्व (२) मनुष्यायुका उदय और तिर्यंच-मनुष्यायुका सत्त्व (३) मनुष्यायुका उदय और मनुष्य-मनुष्यायुका सत्त्व तथा (४) मनुष्यायुका उदय और देव-मनुष्यायुका सत्त्व ये चार भंग होते हैं। इनमें से प्रारम्भके तीन भंग अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक पाये जाते हैं, क्योंकि जिस मनुष्य ने नरकायु, तिर्यंचायु या मनुष्यायुका अपने योग्य स्थानमें बन्ध कर लिया है वह बन्ध करने के पश्चात् संयमको प्राप्त करके अप्रमत्तसंयत भी हो सकता

है। आशय यह है कि यद्यपि मनुष्य गतिमें नरकायुका बन्ध प्रथम गुणस्थान में, तिर्यंचायुका बन्ध दूसरे गुणस्थान तक और इसी प्रकार मनुष्यायुका बन्ध भी दूसरे गुणस्थान तक ही होता है। तथापि बन्ध करने के बाद ऐसे जीव संयम को तो धारण कर सकते हैं, किन्तु श्रेणीपर नहीं चढ़ सकते, इस लिये उपरतबन्धकी अपेक्षा इन तीन आयुओंका सत्त्व अप्रमत्त गुणस्थान तक बतलाया है। तथा चौथे भंगका प्रारम्भके ग्यारह गुणस्थानों तक पाया

१—यद्यपि यहां हमने तिर्यंचगतिके कोष्ठक में उपरतबन्धकी अपेक्षा नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायुका सत्त्व पाचवें गुणस्थान तक बतलाया है। इसी प्रकार मनुष्यगतिके कोष्ठकमें उपरतबन्धकी अपेक्षा नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायुका सत्त्व सातवें गुणस्थान तक बतलाया है। पर इस विषय में अनेक मत पाये जाते हैं। देवेन्द्रसूरिने कर्मस्तव नामक दूसरे कर्म ग्रन्थके सत्ताधिकारमें लिखा है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थानके सिवा प्रथमादि ग्यारह गुणस्थानोंमें १४८ प्रकृतियोंकी सत्ता सम्भव है। तथा आगे चलकर इसी ग्रन्थमें यह भी लिखा है कि चौथे से सातवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानोंमें अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना और तीन दर्शनमोहनीयका क्षय हो जाने पर १४१ की सत्ता होती है। तथा अपूर्वकरण आदि चार गुणस्थानोंमें अनन्तानुबन्धी चतुष्क, नरकायु और तिर्यंचायु इन छह प्रकितियों बिना १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है। इससे दो मत फलित होते हैं। [illegible]के अनुसार तो उपरतबन्धकी अपेक्षा चारों आयुओंकी सत्ता ग्यारहवें [illegible] तक सम्भव है। तथा दूसरे के अनुसार उपरत बन्धकी अपेक्षा [illegible] तिर्यंचायु और मनुष्यायुकी सत्ता सातवें गुणस्थान तक पाई जाती है।

जाना सम्भव है, क्योंकि जिस मनुष्यने देवायुका बन्ध कर लिया है उसका उपशमश्रेणी पर आरोहण करना सम्भव है। इस प्रकार मनुष्यगतिमें अबन्ध, बन्ध और उपरतबन्धकी अपेक्षा आयुकर्म के कुल नौ भंग होते हैं। तथा चारों गतियोंमें सब भंगों का योग अट्ठाईस होता है।

पंचसंग्रहके सप्ततिका संग्रह नामक प्रकरणकी गाथा १०६ से इस दूसरे मतकी ही पुष्टि होती है। बृहत्कर्मस्तवभाष्यसे भी इसी मतकी पुष्टि होती है। किन्तु पंचसंग्रहके इसी प्रकरणकी छठी गाथामें इन दोनोंसे भिन्न एक अन्य मत भी दिया है। वहां बतलाया है कि नरकायुकी सत्ता चौथे गुणस्थानतक, तिर्यंचायुकी सत्ता पांचवें गुणस्थानतक देवायुकी सत्ता ग्यारहवें गुणस्थानतक और मनुष्यायुकी सत्ता चौदहवें गुणस्थानतक पाई जाती है। यह मत गोमट्टसार कर्मकाण्डके अभिप्रायसे मिलता जुलता है। वहां उपरतबन्धकी अपेक्षा नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायुकी सत्ता चौथे गुणस्थानतक तथा देवायुकी सत्ता ग्यारहवें गुणस्थानतक बतलाई है। पंचसंग्रहके उक्त मतसे भी यही बात फलित होती है। दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थोंमें यही एक मत पाया जाता है। यहां पर हमने दूसरे मतको ही प्रधानता दी है क्योंकि श्वेताम्बर परम्परा में अधिकतर इसी मतकी मुख्यता देखी जाती है। मलयगिरि आचार्य ने भी इसी मतके आश्रयसे सर्वत्र वर्णन किया है।

(१) 'नारयसुराउउदओ चउ पंचम तिरि मणुस्स चोद्दसमं। आसम्मदेसजोगी उवसंता संतयाऊणं ॥ अब्बंधे इगि संतं दो दो बद्धाउ वज्झमाणाणं। चउसु वि एक्कस्सुदओ पण नव नव पंच इइ भेया ॥'–पंच सं० सप्तति० गा० ८, ९। 'पण णव णव पण भंगा आउचउक्केसु विसरित्था–॥'–गो० कर्म० गा० ६५१।

मनुष्यगतिमें संवेधभंगोंका ज्ञापक कोष्ठक—

[१३]

क्रमनं०	काल	बन्ध	उदय	सत्त्व	गुणस्थान
१	अबन्ध काल	०	म०	म०	चौदह गुणस्थान
२	बन्ध काल	न०	म०	म० न०	१
३	बन्ध काल	ति०	म०	म० ति०	१, २
४	बन्ध काल	म०	म०	म० म०	१, २
५	बन्धकाल	दे०	म०	म० दे०	१, २, ४, ५, ६, ७
६	उपरतबं० का०	०	म०	म० न०	१, २, ३, ४, ५, ६, ७
७	उपरत० काल	०	म०	म० ति०	१, २, ३, ४, ५, ६, ७
८	उपरत० काल	०	म०	म० म०	१, २, ३, ४, ५ ६, ७
९	उपरत० काल	०	म०	म० दे०	१ से ११ तक

यहां प्रत्येक गतिमें आयुके भंग लानेके लिए यह नियम है जिस गतिमें जितनी आयुओंका बन्ध होता हो उस संख्याको

(१) 'एक्काउस्स तिभंगा संभवआऊहिं ताडिदे णाणा। जीवे इगिउणगुणमसरित्थे॥'—गो० कर्म० गा० ६४५।

तीनसे गुणा कर दे और जहां जो लब्ध प्राप्त हो उसमें से एक कम बंधनेवाली आयुओंकी संख्या घटा दे तो प्रत्येक गतिमें आयुके अबन्ध, बन्ध और उपरतबन्धकी अपेक्षा कुल भंग प्राप्त हो जाते हैं। यथा—नरक गतिमें दो आयुओंका बन्ध होता है अतः दो को तीनसे गुणित कर देने पर छह प्राप्त होते हैं। अब इसमें से एक कम बंधनेवाली आयुओंकी संख्या एकको कम कर दिया तो नरकगतिमें पांच भंग आ जाते हैं। तिर्यंच गतिमें चार आयुओंका बन्ध होता है अतः चारको तीनसे गुणा कर देने पर बारह प्राप्त होते हैं। अब इसमें से एक कम बंधनेवाली आयुओंकी संख्या तीनको घटा दिया तो तिर्यंचगतिमें नौ भंग आ जाते हैं! इसीप्रकार मनुष्यगतिमें नौ और देवगतिमें पांच भंग ले आना चाहिये।

८. गोत्रकर्मके संवेध भंग

अब गोत्र कर्मके बन्धादि स्थान और उनके संवेध भंगोंका विचार करते हैं—गोत्र कर्मके दो भेद हैं, उच्चगोत्र और नीचगोत्र। इनमें से एक जीवके एक कालमें किसी एकका बन्ध और किसी एकका उदय होता है। जो उच्च गोत्रका बन्ध करता है उसके उस समय नीच गोत्रका बन्ध नहीं होता और जो नीच गोत्रका बन्ध करता है उसके उस समय उच्च गोत्रका बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार उदयके विषयमें भी समझना चाहिये। क्योंकि ये दोनों बन्ध और उदय इन दोनों की अपेक्षा परस्पर विरोधिनी प्रकृतियां हैं, अतः इनका एक साथ बन्ध व उदय सम्भव नहीं। किन्तु सत्ताके विषयमें यह बात नहीं है, क्योंकि दोनों प्रकृतियों की एक साथ सत्ता पाई जाने में कोई विरोध नहीं आता है। फिर भी इस

(१) 'गोदुग सगदरं बंधुदया होंति संभवट्ठाणे। दो सत्त जोगि त्ति-य चरिमे उच्चं हवे सत्तं॥'-गो० कर्म० गा० ६३५।

नियमके कुछ अपवाद हैं। बात यह है कि अग्निकायिक और वायुकायिक जीव उच्च गोत्रकी उद्वलना भी करते हैं। अतः ऐसे जीवोंमें से जिन्होंने उच्च गोत्रकी उद्वलना कर दी है उनके या जब ये जीव अन्य एकेन्द्रियादिमें उत्पन्न हो जाते हैं तब उनके भी कुछ कालतक केवल एक नीच गोत्रकी ही सत्ता पाई जाती है। इसी प्रकार अयोगिकेवली जीव भी अपने उपान्त्य समयमें नीच गोत्रकी क्षपणा कर देते हैं अतः उनके अन्तिम समयमें केवल उच्च गोत्रकी ही सत्ता पाई जाती है। इतने विवेचनसे यह निश्चित हुआ कि गोत्रकर्म की अपेक्षा बन्धस्थान भी एक प्रकृतिक होता है और उदयस्थान भी एक प्रकृतिक ही होता है किन्तु सत्त्वस्थान कहीं दो प्रकृतिक होता है और कहीं एक प्रकृतिक होता है।

अब इन स्थानोंके संवेधभंग बतलाते हैं—गोत्रकर्मकी अपेक्षा (१) नीच गोत्रका बन्ध, नीच गोत्रका उदय और नीच गोत्रका सत्त्व (२) नीच गोत्रका बन्ध, नीचगोत्रका उदय और नीच-उच्चगोत्रका सत्त्व (३) नीचगोत्रका बन्ध, उच्चगोत्रका उदय और उच्च-नीचगोत्रका सत्त्व (४) उच्चगोत्रका बन्ध, नीचगोत्रका उदय और उच्च-नीचगोत्रका सत्त्व (५) उच्चगोत्रका बन्ध, उच्चगोत्रका उदय और उच्च-नीचगोत्रका सत्त्व (६) उच्चगोत्रका उदय और

---

(१) 'उच्चुव्वेलिदतेऊ वाउम्मि य णीचमेव सत्तं तु। सेसिगिवियले सयले णीचं च दुगं च सत्तं तु ॥ उच्चुव्वेलिदतेऊ वाऊ सेसे य वियलसय-लेसु। उप्पण्णपढमकाले णीचं एयं हवे सत्तं ॥'-गो० कर्म० गा० ६३६, ६३७।

(२) 'बंधइ ऊइण्णयं चि य इयरं वा दो वि संत चऊ भंगा। नीएसु तिसु वि पढमो अबंधगे दोण्णि उच्चुदए ॥'-पञ्चसं० सप्तति० गा० १६। 'मिच्छादि गोदभंगा पण चदु तिसु दोण्णि अट्ठठाणेसु। एक्केका जोगिजिणे दो भंगा होंति णियमेण ॥'-गो० कर्म० गा० ६३८।

उच्चनीचगोत्रका सत्त्व तथा (७) उच्चगोत्रका उदय और उच्चगोत्रका सत्त्व ये सात संवेध भंग होते हैं। इनमें से पहला भंग जिन अग्निकायिक व वायुकायिक जीवोंने उच्चगोत्रकी उद्वलना कर दी है उनके होता है और ऐसे जीव जिन एकेन्द्रिय, विकलत्रय और पंचेन्द्रियतिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं उनके भी अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त कालके पश्चात् इन एकेन्द्रियादि शेष जीवोंके उच्च गोत्रका बन्ध नियमसे हो जाता है। दूसरा और तीसरा भंग मिथ्यादृष्टि और सास्वादनसम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानोंमें पाया जाता है, क्योंकि नीचगोत्रका बन्धविच्छेद दूसरे गुणस्थानमें हो जाता है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें नीचगोत्रका बन्ध नहीं होता, परन्तु इन दोनों भंगोंका सम्बन्ध नीचगोत्रके बन्धसे है. अतः इनका सद्भाव मिथ्यादृष्टि और सास्वादनसम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानोंमें बतलाया है। चौथा भंग प्रारम्भके पांच गुणस्थानोंमें सम्भव है, क्योंकि नीचगोत्रका उदय पांचवें गुणस्थान तक ही होता है यतः इस भंगका सम्बन्ध नीचगोत्रके उदयसे है अतः प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें इसका अभाव बतलाया है। पांचवा भंग प्रारम्भके दस गुणस्थानोंमें सम्भव है, क्योंकि उच्चगोत्रका बन्ध सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक ही होता है। यतः इस भंगमें उच्चगोत्रका बन्ध विवक्षित है, अतः आगेके गुणस्थानोंमें इसका निषेध किया। छठा भंग उपशान्तमोह गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानके द्विचरम समय तक होता है, क्योंकि नीचगोत्रका सत्त्व यहीं तक पाया जाता है। यतः इस भंगमें नीचगोत्रका सत्त्व

(१) 'बंधो आदुगपणगं उदओ पन चोदृसं तु जा ठाणं। निदुवगो-पसम्मास संठया होति हस्सेदु॥'—सप्तति० प्रा० १५।

संकलित है अतः अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें इसका निषेध किया। तथा सातवां भंग अयोगिकेवली गुणस्थान के अन्तिम समयमें होता है, क्योंकि केवल उच्चगोत्रका उदय और उच्चगोत्रका सत्त्व अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें ही पाया जाता है, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार गोत्रकर्मकी अपेक्षा कुल संवेधभंग सात होते हैं।

गोत्रकर्मके संवेधभंगों का ज्ञापक कोष्ठक—

[१४]

भंग	बन्ध	उदय	सत्त्व	गुणस्थान
१	नी०	नी०	नी०	१
२	नी०	नी०	नी० उ०	१ २,
३	नी०	उ०	नी० उ०	१ २,
४	उ०	नी०	नी० उ०	१, २, ३, ४, ५
५	उ०	उ०	नी० उ०	१ से १० तक
६	०	उ०	नी० उ०	११, १२, १३ व १४ उ० स०
७	०	उ०	उ०	१४ का अन्तिम समय

(१) 'गोदे सत्तेव होंति भंगा हु।'—गो० कर्म० गा० ६५१।

९. मोहनीय कर्म

अब पूर्व सूचनानुसार मोहनीय कर्मके बन्धस्थानों का कथन करते हैं—

बावीस एक्कवीसा सत्तरसा तेरसेव नव पंच।
चउ तिग दुगं च एक्कं बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ १० ॥

अर्थ—बाईस प्रकृतिक, इक्कीस प्रकृतिक, सत्रह प्रकृतिक, तेरह प्रकृतिक, नौ प्रकृतिक, पांच प्रकृतिक, चार प्रकृतिक, तीन प्रकृतिक, दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक इस प्रकार मोहनीय कर्मके कुल दस बन्धस्थान हैं ॥

विशेषार्थ—मोहनीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियां अट्ठाईस हैं। इनमेंसे सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दोनोंका बन्ध नहीं होता अतः बन्धयोग्य कुल छब्बीस प्रकृतियां रहती हैं। इनमें भी तीन वेदोंका एक साथ बंध नहीं होता, किन्तु एक कालमें एक वेदका ही बन्ध होता है। तथा हास्य-रतियुगल और अरति-शोकयुगल ये दोनों युगल भी एक साथ बन्धको नहीं प्राप्त होते किन्तु एक काल में किसी एक युगलका ही बन्ध होता है। इस प्रकार छब्बीस प्रकृतियोंमें से दो वेद और किसी एक युगलके कम हो जाने पर बाईस प्रकृतियां शेष रहती हैं जिनका बन्ध मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें

---

(१) दुगइगवीसा सत्तर तेरस नव पंच चउर ति दु एगो। बंधो इगि दुग चउत्थय पणउणवमेसु मोहस्स ॥'—पंच सं० सप्तति० गा० १६। 'बावीसमेक्कवीसं सत्तारस तेरसेव णव पंच। चदुतियदुगं च एक्कं बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥'-गो० कर्म० गा० ४६३। 'मोहणीयस्स कम्मस्स दस ट्ठाणाणि बावीसाए एक्कवीसाए सत्तारसण्हं तेरसण्हं णवण्हं पंचण्हं चदुण्हं तिण्हं दोण्हं एक्किस्से ट्ठाणं चेदि।—जी० चू० ट्ठा० सू० २०।

होता है। इस बाईस प्रकृतिक बंधस्थानके कालकी अपेक्षा तीन भंग हैं, अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। इनमें से अभव्योंके अनादि-अनन्त विकल्प होता है, क्योंकि उनके कभी भी बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानका विच्छेद नहीं पाया जाता। भव्योंके अनादि-सान्त विकल्प होता है, क्योंकि इनके कालान्तरमें बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानका विच्छेद सम्भव है। तथा जो जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्वको प्राप्त हुए हैं और कालान्तर में पुनः सम्यक्त्वको प्राप्त हो जाते हैं उनके सादि-सान्त विकल्प होता है, क्योंकि कादाचित्क होनेसे इनके बाईस प्रकृतिक बन्ध स्थानका आदि भी पाया जाता है और अन्त भी। इनमें से सादि-सान्त भंगकी अपेक्षा बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण होता है। उपर्युक्त बाईस प्रकृतियोंमें से मिथ्यात्वके कम कर देने पर इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थान प्राप्त होता है। जो सास्वादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें होता है। यद्यपि यहाँ नपुंसकवेदका भी बन्ध नहीं होता तो भी उसकी पूर्ति स्त्रीवेद या पुरुष वेदसे हो जाती है। सास्वादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल छः आवलि है, अतः इस स्थानका भी उक्त प्रमाण काल प्राप्त होता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्कका दूसरे गुणस्थान तक ही बन्ध होता है आगे नहीं, अतः उक्त इक्कीस प्रकृतियोंमें से इन चार प्रकृतियोंके कम कर देने पर मिश्र और अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थान प्राप्त होता है। यद्यपि इन दोनों गुणस्थानोंमें स्त्री वेदका बन्ध नहीं

---

(१) 'देसूणपुव्वकोडी नव तेरे सत्तरे उ तेत्तीसा। बावीसे भंगतिगं ठितिसेसेसु मुहुत्तंतो ॥'—पंचसं० सप्तति० गा० २२।

ता तो भी उसकी पूर्ति पुरुष वेदसे हो जाती है। अतः यहाँ त्रह प्रकृतिक बन्धस्थान बन जाता है। इस स्थानका जघन्य काल न्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल साधिक तेतीस सागर है। यहाँ तेतीस सागर तो अनुत्तर देवके प्राप्त होते हैं। फिर वहाँ से च्युत होकर मनुष्य पर्यायमें जब तक वह विरतिको नहीं प्राप्त होता है, उतना तेतीस सागरसे अधिक काल लिया गया है। अप्रत्याख्यानावरण चतुष्कका बन्ध चौथे गुणस्थान तक ही होता है, अतः पूर्वोक्त सत्रह प्रकृतियोंमें से चार प्रकृतियोंके कम कर देने पर देशविरत गुणस्थानमें तेरह प्रकृतिक बन्धस्थान प्राप्त होता है। देशविरत गुणस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन पूर्वकोटि वर्षप्रमाण होनेसे तेरह प्रकृतिक बन्धस्थान का काल भी उक्त प्रमाण प्राप्त होता है। प्रत्याख्यानावरण चतुष्कका बन्ध पाँचवें गुणस्थान तक ही होता है, अतः पूर्वोक्त तेरह प्रकृतियोंमें से उक्त चार प्रकृतियोंके कम कर देने पर प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें

---

१. श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परंपराओंमें अविरत सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल साधिक तेतीस सागर बतलाया है। किन्तु साधिकसे कितना काल लिया गया है इसका स्पष्ट निर्देश श्वेताम्बर टीका ग्रन्थोंमें देखनेमें नहीं आया। वहां इतना ही लिखा है कि अनुत्तरसे च्युत हुआ जीव जितने कालतक विरतिको नहीं प्राप्त होता उतना काल यहाँ साधिकसे लिया गया है। किन्तु दिगम्बर परम्परामें यहाँ साधिक से कितना काल लिया गया है इसका स्पष्ट निर्देश किया है। धवला टीकामें बतलाया है कि ऐसा जीव अनुत्तर से च्युत होकर मनुष्य पर्यायमें अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटिवर्ष विरतिके बिना रह सकता है। अतः इस हिसाबसे अविरतसम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटिवर्ष अधिक तेतीस सागर होता है।

नौ प्रकृतिक वन्धस्थान प्राप्त होता है। यद्यपि अरति और शोक का वन्ध छठे गुणस्थान तक ही होता है तो भी सातवें और आठवें गुणस्थानमें इनकी पूर्ति हास्य और रतिसे हो जाती है, अतः सातवें और आठवें गुणस्थानमें भी नौ प्रकृतिक वन्धस्थान वन जाता है। इस वन्धस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन पूर्वकोटि वर्षप्रमाण है। यद्यपि छठे, सातवें और आठवें गुणस्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं है फिर भी परिवर्तन क्रमसे छठे और सातवें गुणस्थानमें एक जीव देशोन पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण कालतक रह सकता है, अतः नौ प्रकृतिक वन्धस्थान का उत्कृष्ट काल उक्त प्रमाण प्राप्त हो जाता है। हास्य, रति, भय और जुगुप्साका वन्ध आठवें गुणस्थानके अन्तिम समय तक ही होता है, अतः पूर्वोक्त नौ प्रकृतियोंमें से इन चार प्रकृतियोंके घटा देने पर अनिवृत्ति वादरसम्पराय गुणस्थानके प्रथम भागमें पाँच प्रकृतिक वन्धस्थान होता है। दूसरे भागमें पुरुष वेदका वंध नहीं होता, अतः वहाँ चार प्रकृतिक वंधस्थान होता है। तीसरे भागमें क्रोधसंज्वलनका वन्ध नहीं होता, अतः वहाँ तीन प्रकृतिक वन्धस्थान होता है। चौथे भागमें मानसंज्वलनका वन्ध नहीं होता, अतः वहाँ दो प्रकृतिक वन्धस्थान होता है और पाँचवें भागमें मायासंज्वलनका वन्ध नहीं होता, अतः वहाँ एक प्रकृतिक वंधस्थान होता है। इस प्रकार अनिवृत्ति वादरसंपराय गुणस्थानके पाँच भागोंमें पाँच प्रकृतिक, चार प्रकृतिक, तीन प्रकृतिक, दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक ये पाँच वन्धस्थान होते हैं। इन सभी वन्धस्थानोंका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, ...ंकि प्रत्येक भागका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल ...हूर्त है। इसके आगे सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें एक प्रकृ-...क वन्धस्थानका भी अभाव है, क्योंकि वहाँ मोहनीय कर्मके

बन्धका कारणभूत बादर कषाय नहीं पाया जाता है। इस प्रकार मोहनीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंके कुल बन्धस्थान दस हैं, यह सिद्ध हुआ।

मोहनीय कर्मके बन्धस्थानों की उक्त विशेषताओं का ज्ञापक कोष्ठक—

[१५]

बन्धस्थान	गुणस्थान	भंग	काल	
			जघन्य	उत्कृष्ट
२२ प्र०	१ला	६	अन्तर्मु०	देशोन अपा०
२१ प्र०	२रा	४	एक समय	छह आवलि
१७ प्र०	३रा, ४था	२	अन्तर्मुहू०	साधिक तेतीस सागर
१३ प्र०	५वां	२	,,	देशोन पूर्वकोटि
९ प्र०	६ठा, ७वां, ८वां	२	,,	,,
५ प्र०	९वां, प्रथम भा०	१	एक समय	अन्तर्मु०
४ प्र०	,, दूसरा ,,	१	,,	,,
३ प्र०	,, तीसरा ,,	१	,,	,,
२ प्र०	,, चौथा ,,	१	,,	,,
१ प्र०	,, पांचवां ,,	१	,,	,,

अब मोहनीय कर्मके उदयस्थानोंका कथन करते हैं—

एक्कं व दो व चउरो एत्तो एक्काहिया दसुक्कोसा।
ओहेण मोहणिज्जे उदयट्ठाणा नव हवंति ॥ ११ ॥

अर्थ—सामान्यसे मोहनीय कर्मके उदयस्थान नौ हैं—एक प्रकृतिक, दो प्रकृतिक, चार प्रकृतिक, पाँच प्रकृतिक, छः प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक, नौ प्रकृतिक और दस प्रकृतिक।

विशेषार्थ—आनुपूर्वी तीन हैं—पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यत्रतत्रानुपूर्वी। जो पदार्थ जिस क्रमसे उत्पन्न हुआ हो या जिस क्रमसे सूत्रकारके द्वारा स्थापित किया गया हो उसकी उसी क्रमसे गणना करना पूर्वानुपूर्वी है। विलोम क्रमसे अर्थात् अन्तसे लेकर आदि तक गणना करना पश्चादानुपूर्वी है, और जहाँ कहींसे अपने इच्छित पदार्थको प्रथम मानकर गणना करना यत्रतत्रानुपूर्वी है। वैसे तो आनुपूर्वीके दस भेद बतलाये हैं पर ये तीन भेद गणनानुपूर्वीके जानना चाहिये। यहाँ सप्ततिकाप्रकरण-

---

(१) 'इगि दुग चउ एगुत्तरआदसगं उदयमाहु मोहस्स। संजलणवेयहासरइभयदुगुंछतिकसायदिट्ठी य ॥'–पञ्चसं० सप्तति० गा० २३। 'एक्काइ जा दसण्हं तु। तिगहीणाइ मोहे ...॥'–कर्म० उदी० गा० २२। 'अत्थि एक्किस्से पयडीए पवेसगो। दोण्हं पयडीणं पवेसगो। तिण्हं पयडीणं पवेसगो णत्थि। चउण्हं पयडीणं पवेसगो। एत्तो पाए णिरंतरमत्थि जाव दसण्हं पयडीणं पवेसगो ॥'–कसाय० चु० (वेदक अधिकार) 'दस णव अट्ठ य सत्त य छप्पण चत्तारि दोण्णि एक्कं च। उदयट्ठाणा मोहे णव चेव होंति णियमेण ॥'–गो० कर्म० गा० ४७५।

(२) 'गणणाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी ...।'–अनुयो० सू० ११६। वि० भा० गा० ९४१।

कारने पश्चादानुपूर्वीके क्रमसे मोहनीयके उदयस्थान गिनाये हैं। जहाँ केवल चार संज्वलनोंमें से किसी एक प्रकृतिका उदय रहता है वहाँ एक प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान अपगतवेदके प्रथम समयसे लेकर सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानके अन्तिम समय तक होता है। इसमें तीन वेदोंमें से किसी एक प्रकृतिके मिला देने पर दो प्रकृतिक उदयस्थान होता है। जो अनिवृत्ति बादर सम्परायके प्रथम समयसे लेकर सवेद भागके अन्तिम समय तक होता है। इसमें हास्य-रति युगल या अरति-शोक युगल इनमें से किसी एक युगलके मिला देने पर चार प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ तीन प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता, क्योंकि दो प्रकृतिक उदयस्थानमें हास्य-रति युगल या अरति-शोक युगल इनमें से किसी एक युगलके मिलाने पर चार प्रकृतिक उदयस्थान ही प्राप्त होता है। इसमें भय प्रकृतिके मिला देने पर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसमें जुगुप्सा प्रकृतिके मिला देने पर छः प्रकृतिक उदयस्थान होता है। ये तीनों उदयस्थान छठे सातवें और आठवें गुणस्थानमें होते हैं। इसमें प्रत्याख्यानावरण कषाय की किसी एक प्रकृतिके मिला देने पर सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान पाँचवें गुणस्थानमें होता है। इसमें अप्रत्याख्यानावरण कषायकी किसी एक प्रकृतिके मिला देने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान चौथे व तीसरे गुणस्थानमें होता है। इसमें अनंतानुबन्धी कषायकी किसी एक प्रकृतिके मिला देने पर नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है जो दूसरे गुणस्थानमें होता है। इसमें मिथ्यात्वके मिला देने पर दस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में होता है। इतना विशेष जानना चाहिये कि तीसरे गुणस्थानमें मिश्र प्रकृतिका उदय अवश्य हो जाता है और चौथे से सातवें तक

वेदक सम्यक्त्वपूर्वक अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करके चौबीस प्रकृतियोंकी सत्तावाला हो जाता है, तब अट्ठाईस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है। तथा इसका उत्कृष्ट काल साधिक एक सौ बत्तीस सागर है। यहाँ साधिकसे पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण कालका ग्रहण किया है। खुलासा इस प्रकार है—कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला हुआ। तदनन्तर वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त करके प्रथम छयासठ सागर काल तक सम्यक्त्वके साथ परिभ्रमण किया। फिर अन्तर्मुहूर्त काल तक सम्यग्मिथ्यात्वमें रहकर वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त करके दूसरी बार छयासठ सागर काल तक सम्यक्त्वके साथ परिभ्रमण किया। फिर अन्तमें मिथ्यात्वको प्राप्त होकर सम्यक्त्व प्रकृतिके सबसे उत्कृष्ट पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण कालके द्वारा सम्यक् प्रकृतिकी उद्वलना

---

(१) वेदकसम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करता है इस मान्यताके विषयमें सब दिगम्बर व श्वेताम्बर आचार्य एकमत हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त जयधवला टीकामें एक मतका उल्लेख और किया है। वहां बतलाया है कि उपशमसम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करते हैं इस विषयमें दो मत हैं। एक मत तो यह है कि उपशम सम्यक्त्वका काल थोड़ा है और अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजनाका काल बड़ा है इसलिये उपशम सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना नहीं करता है। तथा दूसरा मत यह है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्कके विसंयोजना कालसे उपशमसम्यक्त्वका काल बड़ा है इसलिये उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करता है। जिन उच्चारणावृत्तियोंके आधारसे जयधवला टीका लिखी गई है उनमें इस दूसरे मतको प्रधानता दी गई है, यह जयधवला टीकाके अवलोकन से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

करके सत्ताईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला हुआ। इस प्रकार अट्ठाईस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका उत्कृष्ट काल पल्यके असंख्यातवें भागसे अधिक एक सौ बत्तीस सागर होता है। ऐसा जीव यद्यपि मिथ्यात्वमें न जाकर क्षपकश्रेणी पर भी चढ़ता है और सत्तास्थानोंको प्राप्त करता है पर इससे उक्त उत्कृष्ट काल नहीं प्राप्त होता, अतः यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया। इतनें से सम्यक्त्व प्रकृतिकी

---

(१) पञ्चसंग्रह के सप्ततिकासंग्रहकी गाथा ४५ व उसकी टीकामें २८ प्रकृतिक सत्तास्थानका उत्कृष्ट काल पल्यका असंख्यातवां भाग अधिक १३२ सागर बतलाया है। किन्तु दिगम्बर परम्परामें इसका उत्कृष्ट काल पल्यके तीन असंख्यातवें भाग अधिक १३२ सागर बतलाया है। इस मत भेदका कारण यह है कि—

श्वेताम्बर परम्परामें २६ प्रकृतियोंकी सत्तावाला मिथ्यादृष्टि ही मिथ्यात्वका उपशम करके उपशम सम्यग्दृष्टि होता है ऐसी मान्यता है तदनुसार केवल सम्यक्त्वकी उद्वलनाके अन्तिम कालमें जीव उपशमसम्यक्त्वको नहीं प्राप्त कर सकता है। अतः यहां २८ प्रकृतिक सत्तास्थानका उत्कृष्ट काल पल्यका असंख्यातवां भाग अधिक १३२ सागर ही प्राप्त होता है क्योंकि जो २८ प्रकृतियोंकी सत्तावाला ६६ सागर तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रहा। पश्चात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि हुआ। तत्पश्चात् पुनः ६६ सागर तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रहा। और अन्तमें जिसने मिथ्यादृष्टि होकर पल्यके असंख्यातवें भाग काल तक सम्यक्त्वकी उद्वलना की। उसके २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका इससे अधिक काल नहीं पाया जाता, क्योंकि इसके बाद वह नियमसे २७ प्रकृतिक सत्तास्थानवाला हो जाता है।

किन्तु दिगम्बर परम्परामें यह मान्यता है कि २६ और २७ प्रकृतियों की सत्तावाला मिथ्यादृष्टि तो नियमसे उपशम सम्यक्त्वको ही उत्पन्न करता है किन्तु २८ प्रकृतियोंकी सत्तावाला वह और भी उपशम सम्यक्त्वको ही

उद्वलना हो जाने पर सत्ताईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह स्थान मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिके होता है। इसका काल पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण है, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृतिकी उद्वलना हो जाने के पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी उद्वलनामें पल्यका असंख्यातवाँ भाग काल लगता है और जब तक सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वलना होती रहती है तब तक यह जीव सत्ताईस

उत्पन्न करता है जिसके वेदकसम्यक्त्वके योग्य काल समाप्त हो गया है। तदनुसार यहां २८ प्रकृतिक सत्तास्थानका उत्कृष्ट काल पल्यके तीन असंख्यातवें भाग अधिक १३२ सागर बन जाता है। यथा—कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके २८ प्रकृतियोंकी सत्तावाला हुआ। तदनन्तर मिथ्यात्वको प्राप्त होकर सम्यक्त्वके सबसे उत्कृष्ट उद्वलना काल पल्यके असंख्यातवें भागके व्यतीत होने पर वह २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाला होता पर ऐसा न होकर वह उद्वलनाके अन्तिम समयमें पुनः उपशम-सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। तदनन्तर प्रथम छयासठ सागर काल तक सम्यक्त्वके साथ परिभ्रमण करके और मिथ्यात्वको प्राप्त होकर पुनः सम्यक्त्वके सबसे उत्कृष्ट पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण उद्वलना कालके अन्तिम समयमें उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ। तदनन्तर दूसरी बार छयासठ सागर काल तक सम्यक्त्वके साथ परिभ्रमण करके और अन्तमें मिथ्यात्वको प्राप्त होकर पल्यके असंख्यातवें भाग कालके द्वारा सम्यक्त्वकी उद्वलना करके २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाला हुआ। इस प्रकार २८ प्रकृतिक सत्तास्थानका उत्कृष्ट काल पल्यके तीन असंख्यातवें भाग अधिक १३२ सागर प्राप्त होता है। कालका यह उल्लेख जयधवला टीकामें मिलता है।

(१) दिगम्बर परम्पराके अनुसार कषायप्राभृत की चूर्णिमें इस स्थानका स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव ही बतलाया है। यथा—'सत्तावीसाए विहत्तिओ को होदि ? मिच्छाइट्ठी।'

प्रकृतियोंकी सत्तावाला ही रहता है, अतः सत्ताईस प्रकृतिक सत्त्व-स्थानका काल[1] पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण कहा। इसमेंसे उद्वलना द्वारा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके घटा देने पर छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तात्पर्य यह है कि छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका सत्त्व नहीं होता। यह स्थान भी मिथ्यादृष्टि जीवके ही होता है। कालकी अपेक्षा इस स्थानके तीन भंग हैं—अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। इनमें से अनादि-अनन्त विकल्प अभव्योंके होता है, क्योंकि उनके छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका आदि और अन्त नहीं पाया जाता। अनादि-सान्त विकल्प भव्योंके होता है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीवके छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान आदि रहित है पर जब वह सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेता है, तब उसके इस स्थानका अन्त देखा जाता है। तथा सादि-सान्त विकल्प सादि मिथ्यादृष्टि जीवके होता है, क्योंकि अट्ठाईस प्रकृ-

---

(१) पंचसंग्रहके सप्ततिका संग्रह की गाथा ४५ की टीकामें लिखा है कि २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाला जीव जब सम्यग्मिथ्यात्वकी पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण कालके द्वारा उद्वलना करके २६ प्रकृतियोंकी सत्तावाला हो जाता है तभी वह मिथ्यात्वका उपशम करके उपशमसम्यग्दृष्टि होता है। अतः इसके अनुसार २७ प्रकृतिक सत्तास्थानका काल पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण ही प्राप्त होता है। किन्तु जयधवला में २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाला भी उपशम सम्यग्दृष्टि हो सकता है ऐसा लिखा है। कषायप्राभृतकी चूर्णिसे भी इसकी पुष्टि होती है। तदनुसार २७ प्रकृतिक सत्तास्थानका जघन्य काल एक समय भी बन जाता है ? क्योंकि २७ प्रकृतिक सत्तास्थानके प्राप्त होनेके दूसरे समयमें ही जिसने उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त कर लिया है उसके २७ प्रकृतिक सत्तास्थान एक समय तक ही देखा जाता है।

तियोंकी सत्तावाले जिस सादि मिथ्यादृष्टि जीवने सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वलना करके छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानको प्राप्त किया है, उसके छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका पुनः विनाश देखा जाता है। इनमेंसे सादि-सान्त विकल्पकी अपेक्षा छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानको प्राप्त करनेके बाद जो त्रिकरणद्वारा अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्वको प्राप्त करके पुनः अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला हो गया है उसके उक्त स्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है। तथा उत्कृष्ट काल देशोन अपार्धपुद्गल परावर्त प्रमाण है, क्योंकि कोई एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उपसम सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ और मिथ्यात्वमें जाकर उसने पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण कालके द्वारा सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वलना करके छब्बीस प्रकृतियोंके सत्त्वको प्राप्त किया। पुनः वह शेष अपार्ध पुद्गल परावर्त काल तक मिथ्यादृष्टि ही रहा किन्तु जब संसारमें रहनेका काल अन्तर्मुहूर्त शेष रहा तब वह पुनः सम्यग्दृष्टि हो गया तो इस प्रकार छब्बीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका उत्कृष्ट काल पल्यका असंख्यातवाँ भाग कम अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण प्राप्त होता है। मोहनीयकी अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाले जीवके

(१) कषायप्राभृतकी चूर्णिमें सादि-सान्त २६ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल एक समय बतलाया है। यथा—

'छब्बीसविहत्ती केवचिरं कालादो ? जहण्णेण एयसमओ।'

सम्यक्त्वकी उद्वलनामें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहने पर जो त्रिकरण क्रियाका प्रारम्भ कर देता है और उद्वलना होनेके बाद एक समयका अन्तराल देकर जो उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त हो जाता है उसके २६ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल एक समय प्राप्त होता है, यह उक्त कथनका अभिप्राय है।

अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना हो जाने पर चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। यह स्थान तीसरे गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि जिस जीवने अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करके चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानको प्राप्त किया है वह यदि सबसे जघन्य अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर मिथ्यात्वका क्षय कर देता है तो उसके चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त देखा जाता है। तथा इसका उत्कृष्ट काल एकसौ बत्तीस सागर है, क्योंकि अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करने के बाद जो वेदक सम्यग्दृष्टि छयासठ सागर तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रहा, फिर अन्तर्मुहूर्तके लिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि हुआ। इसके बाद पुनः छयासठ सागर काल तक वेदक सम्यग्दृष्टि रहा। अनन्तर मिथ्यात्वकी क्षपणा की। इस प्रकार अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना होनेके समयसे लेकर मिथ्यात्वकी क्षपणा होने तकके कालका योग

---

(१) कषायप्राभृतकी चूर्णिमें २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका उत्कृष्ट काल साधिक एक सौ बत्तीस सागर बतलाया है। यथा—

'चउवीसविहत्ती केवचिरं कालादो? जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कस्सेण बे छावट्ठिसागरोवमाणि सादिरेयाणि।'

इसका खुलासा करते हुए जयधवला टीकामें लिखा है कि उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके जिसने अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना की। अनन्तर छयासठ सागर काल तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रहा। फिर अन्तर्मुहूर्त तक सम्यग्मिथ्यादृष्टि रहा। पुनः छयासठ सागर काल तक वेदक सम्यग्दृष्टि रहा। अनन्तर मिथ्यात्वकी क्षपणा की। इस प्रकार अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना हो चुकनेके समयसे लेकर मिथ्यात्वकी क्षपणा होने तकके कालका योग साधिक एक सौ बत्तीस सागर होता है।

पूरा एक सौ बत्तीस सागर होता है, अतः चौबीस प्रकृतिक सत्त्व स्थानका उत्कृष्ट काल उक्त प्रमाण कहा। इस चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानवाले जीवके मिथ्यात्वका क्षय हो जाने पर तेईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह स्थान चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व की क्षपणा का जितना काल है वही तेईस प्रकृतिक सत्त्वस्थानका काल है। इसके सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय हो जाने पर बाईस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह स्थान भी चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक ही पाया जाता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि सम्यक्त्व की क्षपणामें जितना काल लगता है वही बाईस प्रकृतिक सत्त्व-स्थानका काल है। इसके सम्यक्त्व प्रकृतिका क्षय हो जाने पर इक्कीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह चौथे गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर क्षपकश्रेणी पर चढ़कर मध्यकी आठ कषायोंका क्षय होना सम्भव है। तथा इसका उत्कृष्ट काल साधिक तेतीस सागर है, क्योंकि साधिक तेतीस सागर प्रमाण काल तक जीव

---

(१) कषायप्राभृतकी चूर्णिमें २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल साधिक तेतीस सागर बतलाया है। यथा—

'एक्कवीसाए विहत्ती केवचिरं कालादो? जहण्णेण अंतोमुहुत्तं। उक्कस्सेण तेत्ती[illegible] सागरोवमाणि सादिरेयाणि।'

जयधवला टीकामें इस उत्कृष्ट कालका खुलासा करते हुए लिखा है कि एक सम्यग्दृष्टि देव या नारकी मरकर एक पूर्वकोटिकी आयुवाले मनुष्यों में

इक्कीस प्रकृतिक सत्त्वस्थानके साथ रह सकता है। इसके अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण चतुष्क इन आठ प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर तेरह प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह स्थान क्षपकश्रेणीके नौवें गुणस्थानमें प्राप्त होता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि तेरह प्रकृतिक सत्त्वस्थानसे बारह प्रकृतिक सत्त्वस्थानके प्राप्त होनेमें अन्तर्मुहूर्त काल लगता है। इसके नपुंसक वेदका क्षय हो जाने पर बारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि बारह प्रकृतिक सत्त्वस्थानसे ग्यारह प्रकृतिक

उत्पन्न हुआ। अनन्तर आठ वर्षके बाद अन्तर्मुहूर्तमें उसने क्षायिक सम्यग्दर्शनको उत्पन्न किया। फिर आयुके अन्तमें मरकर वह तेतीस सागरकी आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ। इसके बाद तेतीस सागर आयुको पूरा करके एक पूर्वकोटिकी आयुवाले मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ और वहाँ जीवन भ 21 प्रकृतियोंकी सत्ताके साथ रहकर जब जीवनमें अन्तर्मुहूर्त काल शेष र तब क्षपकश्रेणी पर चढ़कर १३ आदि सत्त्वस्थानोंको प्राप्त हुआ। उस आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्वकोटि वर्ष अधिक तेतीस सागर क तक इक्कीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान पाया जाता है।

(१) कषायप्राभृतकी चूर्णिमें १२ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका ज काल एक समय बतलाया है। यथा—

'णवरि बारसण्हं विहत्ती केवचिरं कालादो ? जहण्णेण एगसमओ।'

इसकी व्याख्या करते हुए जयधवला टीकामें वीरसेन स्वामीने लि कि नपुंसक वेदके उदयसे क्षपकश्रेणी पर चढ़ा हुआ जीव उपान्त्य स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके सब सत्कर्मका पुरुष वेदरूपसे संक्रमण क है और तदनन्तर एक समयके लिये १२ प्रकृतिक सत्त्वस्थानवाला हो है, क्योंकि इस समय नपुंसकवेदकी उदयस्थितिका विनाश नहीं होता

सत्त्वस्थानके प्राप्त होनेमें अन्तर्मुहूर्त काल लगता है, किन्तु जो जीव नपुंसक वेदके उदयके साथ क्षपकश्रेणी पर चढ़ता है, उसके नपुंसक वेदकी क्षपणाके साथ ही स्त्री वेदका क्षय होता है, अतः ऐसे जीवके बारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं पाया जाता है। जिसने नपुंसक वेदके क्षयसे बारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त किया है, उसके स्त्री वेदका क्षय हो जाने पर ग्यारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि छह नोकषायोंके क्षय होनेमें अन्तर्मुहूर्त काल लगता है। इसके छह नोकषायोंका क्षय हो जाने पर पाँच प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल दो समय कम दो आवलि प्रमाण है, क्योंकि छः नोकषायोंके क्षय होने पर पुरुष वेदका दो समय कम दो आवलि काल तक सत्त्व देखा जाता है। इसके पुरुष वेदका क्षय हो जाने पर चार प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। इसके क्रोधसंज्वलनका क्षय हो जाने पर तीन प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसका भी जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। इसी प्रकार आगेके सत्त्वस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त होता है। इसके मान संज्वलनका क्षय हो जाने पर दो प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसके माया संज्वलनका क्षय हो जाने पर एक प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इस प्रकार मोहनीय कर्मके कुल सत्त्वस्थान पन्द्रह होते हैं यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार यद्यपि क्रमसे बन्धस्थान, उदयस्थान और सत्त्वस्थानोंका निर्देश कर आये हैं पर इनमें जो भंग और इनके अवान्तर विकल्प प्राप्त होते हैं उनका निर्देश नहीं किया जो कि आगे किया जाने वाला है। यहाँ ग्रन्थकर्ताने इस गाथामें 'जाणु' क्रियाका प्रयोग किया है, जिससे विदित होता है कि आचार्य इससे यह ध्वनित करते हैं कि यह कथन गहन है, अतः प्रमादरहित होकर इसको समझो।

मोहनीयकर्मके सत्तास्थान

उक्त विशेषताओंका ज्ञापक कोष्ठक

[१७]

सत्तास्थान	गुणस्थान	काल	
		जघन्य	उत्कृष्ट
२८	१ से ११	अन्तर्मु०	साधिक १३२ सागर
२७	१ ला व ३ रा	पल्यका असं० भाग	पल्यका असं० भाग
२६	१ ला	अन्तर्मु०	देशोन अपार्ध०
२४	३ से ११	,,	१३२ सागर
२३	४ से ७	,,	अन्तर्मु०
२२	४ से ७	,,	,,
२१	४ से ११	,,	साधिक ३३ सागर
१३	९ वाँ	,,	अन्तर्मु०
१२	,,	,,	,,
११	,,	,,	,,
५	,,	दो समय कम दो आ०	दो समय कम दो आ०
४	,,	अन्तर्मु०	अन्तर्मु०
३	,,	,,	,,
२	,,	,,	,,
१	९ वाँ व १० वाँ	,,	,,

अब सबसे पहले बन्धस्थानोंमें भंगोंका निरूपण करते हैं—

छब्बीसे चउ इगवीसे सत्तरस तेरसे दो दो।
नवबंधगे वि दोन्नि उ एक्केक्कमओ परं भंगा॥ १४॥

अर्थ—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके छः भंग हैं। इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके चार भंग हैं। सत्रह और तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानके दो दो भंग हैं। नौ प्रकृतिक बन्धस्थानके भी दो भंग है, तथा इसके आगे पाँच प्रकृतिक आदि बन्धस्थानोंमें से प्रत्येक का एक एक भंग है।

विशेषार्थ—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें मिथ्यात्व, सोलह कषाय, तीनों वेदोंमें से कोई एक वेद, हास्य-रति युगल और अरति-शोकयुगल इन दो युगलोंमें से कोई एक युगल, भय और जुगुप्सा इन बाईस प्रकृतियोंका ग्रहण होता है। यहाँ छः भंग होते हैं। उनका खुलासा इस प्रकार है—हास्य-रतियुगल और अरति-शोक युगल इन दो युगलोंमें से किसी एक युगलके मिलाने पर बाईस प्रकृतिक बंधस्थान होता है, अतः दो भंग तो ये हुए और ये दोनों भंग तीनों वेदोंमें विकल्पसे प्राप्त होते हैं, अतः दोको तीनसे गुणित कर देने पर छः भंग हो जाते हैं। इसमें से मिथ्यात्वके घटा देने पर इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है, किन्तु इतनी विशेषता है कि यहाँ पुरुषवेद और स्त्रीवेद इन दो वेदोंमें से कोई एक वेद ही

---

(१) छब्बावीसे चदु इगिवीसे दो दो हवंति छट्ठो त्ति। एक्केक्कमदो भंगो बंधट्ठाणेसु मोहस्स॥'—गो० कर्म० गा० ४६७॥

(२) 'हासरइअरइसोगाण बंधया आणवं दुहा सव्वे। वेयविभज्जंता पुण दुगइगवीसा छहा चउहा॥'—पंचसं० सप्तति० गा० २०।

कहना चाहिए। क्योंकि इक्कीस प्रकृतियोंके बन्धक सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव ही होते हैं और वे स्त्री वेद या पुरुष वेदका ही बन्ध करते हैं नपुंसक वेदका नहीं, क्योंकि नपुंसक वेदका बन्ध मिथ्यात्वके उदयकालमें ही होता है अन्यत्र नहीं। किन्तु सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीवोंके मिथ्यात्वका उदय होता नहीं, अतः यहाँ दो युगलोंको दो वेदोंसे गुणित कर देने पर चार भंग होते हैं। इसमें से अनन्तानुबन्धी चतुष्कके घटा देने पर सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। किन्तु इस बन्धस्थानमें एक पुरुष वेद ही कहना चाहिये स्त्रीवेद नहीं, क्योंकि सत्रह प्रकृतियोंके बन्धक सम्यग्मिथ्यादृष्टि या अविरतसम्यग्दृष्टि जीव होते हैं, परन्तु इनके स्त्री वेदका बन्ध नहीं होता, क्योंकि स्त्रीवेदका बन्ध अनन्तानुबन्धीके उदयके रहते हुए ही होता है अन्यत्र नहीं। परन्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि जीवोंके अनन्तानुबन्धीका उदय होता नहीं, इसलिये यहाँ हास्य-रतियुगल और अरति-शोकयुगल इन दो युगलोंके विकल्पसे दो भंग प्राप्त होते हैं। इस बन्धस्थानमेंसे अप्रत्याख्याना-वरण कषाय चतुष्कके कम कर देने पर तेरह प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यहाँ पर भी दो युगलोंके निमित्तसे दो ही भंग प्राप्त होते हैं, क्योंकि यहाँ पर भी एक पुरुष वेदका ही बन्ध होता है. अतः वेदोंके विकल्पसे जो भंगोंमें वृद्धि सम्भव थी, वह यहाँ भी नहीं है। इस बन्धस्थानमें से प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्कके कम हो जाने पर नौ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यह नौ प्रकृ-तिक बन्धस्थान प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरण इन तीन गुणस्थानोंमें पाया जाता है किन्तु इतनी विशेषता है कि अरति और शोक इनका बन्ध प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही होता है आगे नहीं, अतः प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें इस स्थानके दो भंग होते हैं जो पूर्वोक्त ही हैं। तथा अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरण

इनमें हास्य-रतिरूप एक एक भंग ही पाया जाता है। इस स्थानमें से हास्य, रति, भय और जुगुप्साके कम कर देने पर पाँच प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यहाँ एक ही भंग है, क्योंकि इसमें बंधनेवाली प्रकृतियोंमें विकल्प नहीं है। इसी प्रकार चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक बन्धस्थानोंमें भी एक एक ही भंग होता है। इस प्रकार मोहनीय कर्मके दस बन्धस्थानोंके कुल भंग ६ + ४ + २ + २ + २ + १ + १ + १ + १ + १ = २१ होते हैं, यह उक्त गाथाका तात्पर्य है।

अब इन बन्धस्थानोंमें से किसमें कितने उदयस्थान होते हैं, यह बतलाते हैं—

दस बावीसे नव इक्कीस सत्ताइ उदयठाणाइं।
छाई नव सत्तरसे तेरे पंचाइ अट्ठेव ॥ १५ ॥

अर्थ—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें सातसे लेकर दस तक, इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें सातसे लेकर नौ तक, सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानमें छः से लेकर नौ तक और तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानमें पाँचसे लेकर आठ तक प्रकृतियोंका उदय जानना चाहिये।

विशेषार्थ—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक, नौ प्रकृतिक और दस प्रकृतिक ये चार उदयस्थान होते हैं। इनमें से पहले सात प्रकृतिक उदयस्थानको दिखलाते हैं—एक मिथ्यात्व, दूसरी हास्य, तीसरी रति, अथवा हास्य और रतिके स्थानमें अरति और शोक, चौथी तीन वेदोंमेंसे कोई एक वेद, पाँचवीं अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदिमें से कोई एक, छठी प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदिमें से कोई एक और सातवीं संज्वलन क्रोध आदिमें से कोई एक इन सात प्रकृतियोंका उदय बाईस प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके नियम

से होता है। यहाँ भंग चौबीस होते हैं। यथा—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारोंका उदय एक साथ नहीं होता, क्योंकि उदयकी अपेक्षा ये चारों परस्पर विरोधिनी प्रकृतियाँ हैं, अतः क्रोधादिकके उदयके रहते हुए मानादिकका उदय नहीं होता। परंतु क्रोधका उदय रहते हुए उससे नीचे के सब क्रोधों का उदय अवश्य होता है। जैसे, अनन्तानुबन्धी क्रोधका उदय रहते हुए चारों क्रोधोंका उदय एकसाथ होता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोधका उदय रहते हुए तीन क्रोधोंका उदय एकसाथ होता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोधका उदय रहते हुए दो क्रोधोंका उदय एकसाथ होता है तथा संज्वलन क्रोधका उदय रहते हुए एक ही क्रोधका उदय होता है। इस हिसाब से प्रकृत सात प्रकृतिक उदयस्थान में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि तीन क्रोधों का उदय होता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण मानके उदय के रहते हुए तीन मानका उदय होता है। अप्रत्याख्यानावरण माया का उदय रहते हुए तीन माया का उदय होता है और अप्रत्याख्यानावरण लोभका उदय रहते हुए तीन लोभका उदय होता है। जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं तदनुसार ये क्रोध, मान, माया और लोभके चार भंग स्त्री वेदके उदयके साथ होते हैं। और यदि स्त्री वेदके उदयके स्थानमें पुरुष वेदका उदय हुआ तो पुरुषवेदके उदयके साथ होते हैं। इसी प्रकार नपुंसक वेदके उदयके साथ भी ये चार भंग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ये सब मिलकर बारह भंग हुए। जो हास्य और रतिके उदयके साथ भी होते हैं। और यदि हास्य तथा रतिके स्थानमें शोक और अरति का उदय हुआ तो इनके साथ भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार बारह को दोसे गुणित करने पर चौबीस भंग हुए। इन्हीं भंगों को दूसरे प्रकारसे यों भी गिन सकते हैं कि हास्य-रति युगल के साथ स्त्री वेदका एक भंग तथा शोक-अरति युगल के साथ स्त्री वेदका

एक भंग इस प्रकार स्त्री वेदके साथ दो भंग हुए। तथा पुरुषवेद और नपुंसकवेदके साथ भी इसी प्रकार दो दो भंग होंगे। ये कुल भंग छह हुए। जो छहों भंग क्रोधके साथ भी होंगे। क्रोधके स्थानमें मानका उदय होने पर मानके साथ भी होंगे। तथा इसी प्रकार माया और लोभके साथ भी होंगे, अतः पूर्वोक्त छह भंगोंको चारसे गुणित कर देने पर कुल भंग चौबीस हुए। यह एक चौबीसी हुई।

इन सात प्रकृतियोंके उदय में भय, जुगुप्सा और अनन्तानुबन्धी चतुष्कमेंसे कोई एक कषाय इस प्रकार इन तीन प्रकृतियोंमें से क्रमशः एक एक प्रकृतिके उदयके मिलाने पर आठ प्रकृतियोंका उदय तीन प्रकारसे प्राप्त होता है और इसीलिये यहाँ भंगोंकी तीन चौबीसी प्राप्त होती हैं, क्योंकि सात प्रकृतियोंके उदयमें भयका उदय मिलानेपर आठके उदयके साथ भंगोंकी पहली चौबीसी प्राप्त हुई। तथा पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंके उदयमें जुगुप्साका उदय मिलाने पर आठके उदयके साथ भंगोंकी दूसरी चौबीसी प्राप्त हुई। इसी प्रकार पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंके उदयमें अनन्तानुबन्धी क्रोधादिकमें से किसी एक प्रकृतिके उदयके मिलाने पर आठके उदयके साथ भंगों की तीसरी चौबीसी प्राप्त हुई। इस प्रकार आठ प्रकृतिक उदयस्थान के रहते हुए भंगों की तीन चौबीसी प्राप्त हुई।

शंका—जब कि मिथ्यादृष्टि जीवके अनान्तानुबन्धी चतुष्कका उदय नियमसे होता है तब यहाँ सात प्रकृतिक उदयस्थान में और भय या जुगुप्सामें से किसी एकके उदयसे प्राप्त होनेवाले पूर्वोक्त दो प्रकारके आठ प्रकृतिक उदयस्थानोंमें उसे अनन्तानुबन्धी उदयसे रहित क्यों बतलाया ?

समाधान—जो सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी

विसंयोजना करके रह गया। क्षपणाके योग्य सामग्रीके न मिलने से उसने मिथ्यात्व आदिका क्षय नहीं किया। अनन्तर कालान्तर में वह मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ अतः वहाँ उसने मिथ्यात्वके निमित्त से पुनः अनन्तानुबन्धी चतुष्कका बन्ध किया। ऐसे जीवके एक आवलिका प्रमाण कालतक अनंतानुबंधी का उदय नहीं होता किन्तु आवलिकाके व्यतीत हो जाने पर नियमसे होता है। अतः मिथ्यादृष्टि जीवके अनन्तानुबन्धीके उदयसे रहित स्थान बन जाते हैं। यही सबब है कि सात प्रकृतिक उदयस्थानमें और भय या जुगुप्साके उदयसे प्राप्त होनेवाले आठ प्रकृतिक उदयस्थानमें अनन्तानुबन्धीका उदय नहीं बतलाया।

शंका—किसी भी कर्मका उदय अबाधाकालके क्षय होने पर होता है और अनन्तानुबन्धी चतुष्कका जघन्य अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अबाधाकाल चार हजार वर्ष है, अतः बन्धावलिके बाद ही अनन्तानुबन्धीका उदय कैसे हो सकता है?

समाधान—बात यह है कि बन्धसमयसे ही अनन्तानुबन्धीकी सत्ता हो जाती है, और सत्ताके हो जाने पर प्रवर्तमान बन्धमें पतद्ग्रहता आ जाती है, और पतद्ग्रहपनेके प्राप्त हो जाने पर शेष समान जातीय प्रकृतिदलिकका संक्रमण होता है जो पतद्ग्रहप्रकृतिरूपसे परिणम जाता है, जिसका संक्रमावलिके बाद उदय होता है, अतः आवलिकाके बाद अनन्तानुबन्धी का उदय होने लगता है यह कहना विरोधको नहीं प्राप्त होता है।

इस शंका-समाधानका यह तात्पर्य है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्क विसंयोजनाप्रकृति है। विसंयोजना वैसे तो है क्षय ही, किन्तु विसंयोजना और क्षय में यह अन्तर है कि विसंयोजना के हो जाने पर कालान्तरमें योग्य सामग्री के मिलने पर विसंयोजित

प्रकृतिकी पुनः सत्ता हो सकती है पर क्षयको प्राप्त हुई प्रकृति की पुनः सत्ता नहीं होती। सत्ता दो प्रकारसे होती है बन्धसे और संक्रमसे। पर बन्ध और संक्रमका अन्योन्य सम्बन्ध है। जिस समय जिसका बन्ध होता है उस समय उसमें अन्य सजातीय प्रकृतिदलिकका संक्रमण होता है। ऐसी प्रकृतिको पतद्ग्रह प्रकृति कहते हैं। जिसका अर्थ आकर पड़नेवाले कर्मदलको ग्रहण करने वाली प्रकृति होता है। ऐसा नियम है कि संक्रमसे प्राप्त हुए कर्मदलका संक्रमावलिके बाद उदय होता है, अतः अनन्तानुबन्धीका एक आवलिके बाद उदय मानने में कोई आपत्ति नहीं है। यद्यपि नवीन बंधावलिके बाद अबाधाकालके भीतर भी अपकर्षण हो सकता है और यदि ऐसी प्रकृति उदय प्राप्त हुई तो उस अपकर्षित कर्मदल का उदय समयसे निक्षेप भी हो सकता है, अतः नवीन बंधे हुए कर्मदलका प्रयोग विशेषसे अबाधाकालके भीतर भी उदीरणोदय हो सकता है, इसमें कोई बाधा नहीं आती। फिर भी पीछे जो शंका-समाधान किया गया है उसमें इसकी विवक्षा नहीं की गई है।

पीछे जो सात प्रकृतिक उदयस्थान कह आये हैं उसमें भय और जुगुप्सा के या भय और अनन्तानुबन्धी के या जुगुप्सा और अनन्तानुबन्धी के मिलाने पर तीन प्रकारसे नौ प्रकृतियोंका उदय प्राप्त होता है। यहाँ भी एक एक विकल्पमें पूर्वोक्त क्रमसे भंगों की एक एक चौबीसी प्राप्त होती है। इस प्रकार नौ प्रकृतिक उदयस्थानमें भी भंगोंकी तीन चौबीसी जानना चाहिये।

तथा उसी सात प्रकृतिक उदयस्थानमें भय, जुगुप्सा और अनन्तानुबन्धीके मिला देने पर दस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकारसे भंगोंकी एक चौबीसी होती है। इस प्रकार सात प्रकृतिक उदयस्थानकी एक चौबीसी, आठ प्रकृतिक

और २८ प्र० उ० स्थान की १ चौवीसी,

उदयस्थानकी तीन चौवीस, नौ प्रकृतिक उदयस्थानकी तीन चौवीसी, ये कुल भंगोंकी आठ चौवीसी प्राप्त हुईं जो वाईस प्रकृतिक वन्धस्थानके समय होती हैं।

इक्कीस प्रकृतिक वन्धस्थानके रहते हुए सात प्रकृतिक उदयस्थान, आठ प्रकृतिक उदयस्थान और नौ प्रकृतिक उदयस्थान ये तीन उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे सात प्रकृतिक उदयस्थानमें एक जातिकी चार कपाय, तीनों वेदोंमें से कोई एक वेद और दो युगलों मेंसे कोई एक युगल इन सात प्रकृतियोंका उदय नियमसे होता है। यहाँ भी पूर्वोक्त क्रमसे भंगोंकी एक चौवीसी प्राप्त होती है। इसमें भयके या जुगुप्साके मिला देने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान दो प्रकारसे प्राप्त होता है। यहाँ भी एक एक विकल्पमें भंगोंकी एक एक चौवीसी प्राप्त होनेसे आठ प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी दो चौवीसी प्राप्त होती हैं। तथा पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंके उदयमें भय और जुगुप्सा के मिला देने पर नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह एक ही प्रकारका है अतः यहाँ भंगोंकी एक चौवीसी प्राप्त होती है। इस प्रकार सात प्रकृतिक उदयस्थानकी एक चौवीसी, आठ प्रकृतिक उदयस्थानकी दो चौवीसी और नौ प्रकृतिक उदयस्थानकी एक चौवीसी ये कुल भंगोंकी चार चौवीसी प्राप्त हुईं जो इक्कीस प्रकृतिक वन्धस्थानमें सम्भव है।

यह इक्कीस प्रकृतिक वन्धस्थान सास्वादनसम्यग्दृष्टि जीवके ही होता है, और सास्वादनसम्यग्दृष्टिके श्रेणिगत और अश्रेणिगत ऐसे दो भेद हैं। जो जीव उपशमश्रेणिसे गिरकर सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त होता है वह श्रेणिगत सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है। तथा जो उपशम सम्यग्दृष्टि जीव उपशमश्रेणि पर तो चढ़ा नहीं किन्तु अनन्तानुवन्धीके उदयसे सास्वादनभाव को प्राप्त हो गया वह अश्रेणिगत सास्वादनसम्यग्दृष्टि जीव कहलाता है। इनमें से अश्रे-

णिगत सास्वादनसम्यग्दृष्टि जीवकी अपेक्षा ये सात प्रकृतिक आदि तीन उदयस्थान कहे हैं।

किन्तु जो श्रेणिगत सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव है उसके विषय में दो उपदेश पाये जाते हैं। कुछ आचार्योंका कहना है कि जिसके अनन्तानुवन्धीकी सत्ता है ऐसा जीव भी उपशमश्रेणिको प्राप्त होता है। इन आचार्यों के मतसे अनन्तानुवन्धीकी भी उपशमना होती है। इस मतकी पुष्टि निम्न गाथासे होती है।

'अणदंसणपुंसित्थीवेयछक्कं च पुरिसवेयं च।'

अर्थात्—'पहले अनन्तानुन्धी कषायका उपशम करता है। उसके बाद दर्शनमोहनीयका उपशम करता है। फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय और पुरुषवेदका उपशम करता है।'

और ऐसा जीव श्रेणिसे गिरकर सास्वादन भावको भी प्राप्त होता है। अतः इसके भी पूर्वोक्त तीन उदयस्थान होते हैं।

किन्तु अन्य आचार्योंका मत है कि जिसने अनन्तानुन्धी की विसंयोजना कर दी है ऐसा जीव ही उपशमश्रेणिको प्राप्त होता है, अनन्तानुवन्धीकी सत्तावाला जीव नहीं। इनके मतसे ऐसा

---

(१) दिगम्बर परम्परामें अनन्तानुवन्धीकी उपशमनावाले मतका पट्खण्डागम, कषायप्राभृत व उनकी टीकाओंमें उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें इस मतका अवश्य उल्लेख किया है। वहाँ उपशमश्रेणिमें २८, २४ और २१ प्रकृतिक तीन सत्त्वस्थान वतलाये हैं। यथा—

'अडचउरेक्कावीसं उवसमसेढिम्मि।'—गो० क० गा० ५११।

(२) आ० नि० गा० ११६। पं० क० प्रं० गा० ६८।

जीव उपशम श्रेणिसे गिर कर सास्वादनभावको नहीं प्राप्त होता है क्योंकि उसके अनन्तानुबन्धीका उदय सम्भव नहीं। और सास्वादनसम्यक्त्वकी प्राप्ति तो अनन्तानुबन्धीके उदयसे होती है, अन्यथा नहीं। कहा भी है—

---

(१) यद्यपि यहाँ हमने आचार्य मलयगिरिकी टीकाके अनुसार यह बतलाया है कि अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करके जो जीव उपशमश्रेणि पर चढ़ता है वह गिरकर सास्वादन गुणस्थानको नहीं प्राप्त होता है। तथापि कर्मप्रकृतिक आदिके निम्न प्रमाणोंसे ऐसा ज्ञात होता है कि ऐसा जीव भी सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त होता है। यथा—

कर्मप्रकृतिकी चूर्णिमें लिखा है—

'चरित्तुवसमणं काउंकामो जति वेयगसम्मद्दिट्ठी तो पुव्वं अणंताणुवंधिणो नियमा विसंजोएति। एएण कारणेण विरयाणं अणंताणुवंधिविसंजोयणा भन्नति।—' कर्मप्र० चु० उपश० गा० ३०।

अर्थात् जो वेदकसम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहनीयकी उपशमना करता है वह नियमसे अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करता है। और इसी कारणसे विरत जीवोंके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना कही गई है।

फिर आगे चलकर उसीके मूलमें लिखा है—

'आसाणं वा वि गच्छेज्जा।'—कर्मप्र० उपश० गा० ६२।

अर्थात् ऐसा जीव उपशमश्रेणिसे उतरकर सास्वादन गुणस्थानको भी प्राप्त होता है।

इन उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि कर्मप्रकृतिके कर्ताका यही एक मत रहा है कि अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना किये विना उपशमश्रेणि पर आरोहण करना सम्भव नहीं, और वहाँसे उतरनेवाला यह जीव सास्वादन गुणस्थानको भी प्राप्त होता है। यद्यपि पंचसंग्रहके उपशमना प्रकरणसे कर्मप्रकृतिके मतकी ही पुष्टि होती है किन्तु उसके संक्रमप्रकरणसे इसका

'अणंताणुवंधुदयरहियस्स सासणभावो न संभवइ।'

अर्थात् अनन्तानुवन्धीके उदयके विना सास्वादन सम्यक्त्वका प्राप्त होना सम्भव नहीं है।

शंका—जिस समय कोई एक जीव मिथ्यात्वके अभिमुख तो होता है किन्तु मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता उस समय उन आचार्योंके मतानुसार उसके अनन्तानुवन्धीके उदयके विना भी सास्वादन गुणस्थानकी प्राप्ति हो जायगी, यदि ऐसा मान लिया जाय तो इसमें क्या आपत्ति है?

समाधान—यह मानना ठीक नहीं, क्यों कि ऐसा मानने पर उसके छह प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये चार उदयस्थान प्राप्त होते हैं। पर आगममें ऐसा वतलाया नहीं, और वे आचार्य भी ऐसा मानते नहीं। इससे

समर्थन नहीं होता, क्योंकि वहाँ सास्वादन गुणस्थानमें २१ में २५ का ही संक्रमण वतलाया गया है।

दिगम्वर परम्परामें एक षट्खण्डागमकी और दूसरी कषायप्राभृतकी ये दो परम्पराएँ मुख्य हैं। इनमेंसे षट्खण्डागमकी परम्पराके अनुसार उपशमश्रेणिसे च्युत हुआ जीव सास्वादन गुणस्थानको नहीं प्राप्त होता है। वीरसेन स्वामीने अपनी धवला टीकामें भगवान पुष्पदन्त भूतवलिके उपदेश का इसी रूपसे उल्लेख किया है। यथा—

'भूदवलिभयवंतस्सुवएसेण उपसमसेढीदो ओदिण्णो ण सासणत्तं पडिवज्जदि।'—जीव० चू० पृ० ३३१।

किन्तु कषायप्राभृतकी परम्पराके अनुसार तो जो जीव उपशमश्रेणि चढ़ा है, वह उससे च्युत होकर सास्वादन गुणस्थानको भी प्राप्त हो [illegible] है। तथापि कषायप्राभृतकी चूर्णिमें अनन्तानुवन्धी उपशमना प्रकृति इसका स्पष्टरूपसे निषेध किया है और साथ ही यह भी लिखा है कि

सिद्ध है कि अनन्तानुबन्धीके उदयके बिना सास्वादनसम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती।

सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए छह प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, आठप्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये चार उदयस्थान होते हैं। सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थान तीसरे और चौथे गुणस्थानमें होता है। उनमेंसे मिश्र गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतियोंका बन्ध होते हुए सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये तीन उदयस्थान होते हैं। पहले सास्वादन गुणस्थानमें जो सात प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमें से अनन्तानुबन्धीके एक भेदको घटाकर मिश्रमोहनीयके मिला देनेपर मिश्र गुणस्थानमें सात प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है क्यों कि मिश्र गुणस्थानमें अनंतानुबन्धीका उदय न होकर मिश्र मोहनीयका उदय होता है, अतः यहाँ अनन्तानुबन्धीका एक भेद घटाया गया है और मिश्रमोहनीय प्रकृति मिलाई गई है। यहाँ भी पहलेके समान भंगोंकी एक चौबीसी प्राप्त होती है। इस सात प्रकृतिक उदयस्थानमें भय या जुगुप्साके

'वेदकसम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना किये बिना कषायोंको नहीं उपशमाता है।' यह केवल कषायप्राभृतके चूर्णिकारका ही मत नहीं है; किन्तु मूल कषायप्राभृतसे भी इस मतकी पुष्टि होती है। कषायप्राभृतके प्रकृतिस्थान संक्रम अनुयोगद्वारमें जो ३२ गाथाएँ आई हैं उनमेंसे सातवीं गाथामें बतलाया है कि '१२, ९, ७, १७, ५ और २१ इन छह पतद्ग्रहस्थानोंमें २१ प्रकृतियोंका संक्रमण होता है।' यहाँ जो इक्कीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थानमें इक्कीस प्रकृतियोंका संक्रमण बतलाया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कषायप्राभृतकी चूर्णिमें जो यह मत बतलाया है कि जिसने अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना की है ऐसा जीव भी सास्वादन गुणस्थानको प्राप्त हो सकता है सो यह मत कषायप्राभृत मूलसे समर्थित है।

भंगोंकी आठ चौबीसी प्राप्त होती हैं। यहाँ भी चार चौबीसी उपशमसम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीवोंके तथा चार चौबीसी वेदकसम्यग्दृष्टि जीवोंके होती हैं।

> चत्तारिमाइ नवबंधगेसु उक्कोस सत्त उदयंसा।
> पंचविहबंधगे पुण उदओ दोण्हं मुणेयव्वो ॥१६॥

अर्थ—नौ प्रकृतियों का बन्ध करनेवाले जीवोंके चार प्रकृतिक उदयस्थानसे लेकर अधिकसे अधिक सात प्रकृतिक उदयस्थान तक चार उदयस्थान होते हैं। तथा पाँच प्रकृतियोंका बन्ध करने वाले जीवोंके उदय दो प्रकृतियों का ही होता है। ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ—इस गाथामें यह बतलाया है कि नौ प्रकृतिक और पाँच प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए उदयस्थान कितने होते हैं। आगे इसीका खुलासा करते हैं—नौ प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए चार प्रकृतिक, पाँच प्रकृतिक, छः प्रकृतिक और सात प्रकृतिक ये चार उदयस्थान होते हैं। पहले पाँचवें गुणस्थानमें जो पाँच प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमें से प्रत्याख्यानावरण कषायके एक भेदके कम कर देने पर यहाँ चार प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है जिसमें पूर्वोक्त प्रकारसे भंगोंकी एक चौबीसी होती है। इसमें भय, जुगुप्सा या सम्यक्त्व मोहनीय इन तीन प्रकृतियोंमेंसे किसी एक प्रकृतिके क्रमसे मिलाने पर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान तीन प्रकारसे प्राप्त होता है। यहाँ एक एक भेदमें भंगोंकी एक एक चौबीसी प्राप्त होती है, अतः पाँच [illegible] उदयस्थानमें भंगोंकी कुल तीन चौबीसी प्राप्त हुईं। [illegible] चार प्रकृतिक उदयस्थानमें भय और जुगुप्सा, भय और [illegible] मोहनीय या जुगुप्सा और सम्यक्त्वमोहनीय इन दो

दो प्रकृतियों के क्रमसे मिलाने पर छह प्रकृतिक उदयस्थान तीन प्रकारसे प्राप्त होता है। यहाँ भी एक एक भेदमें भंगों की एक एक चौबीसी प्राप्त होती है, अतः छह प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी कुल तीन चौबीसी प्राप्त हुईं। फिर चार प्रकृतिक उदयस्थानमें भय, जुगुप्सा और सम्यक्त्व मोहनीयके मिलाने पर सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह सात प्रकृतिक उदयस्थान एक ही प्रकारका है अतः यहाँ भंगोंकी एक चौबीसी प्राप्त हुई। इस प्रकार नौ प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए उदयस्थानोंकी अपेक्षा भंगोंकी आठ चौबीसी प्राप्त हुईं। यहाँ भी चार चौबीसी उपशमसम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीवोंके तथा चार चौबीसी वेदकसम्यग्दृष्टि जीवोंके होती हैं।

पाँच प्रकृतिक बन्धके रहते हुए संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ इनमेंसे कोई एक तथा तीनों वेदोंमेंसे कोई एक इस प्रकार दो प्रकृतियों का उदय होता है। यहाँ चारों कषायोंको तीनों वेदोंसे गुणित करने पर बारह भंग होते हैं। ये बारह भंग नौवें गुणस्थान के पाँच भागोंमेंसे पहले भाग में होते हैं।

अब अगले बन्धस्थानोंमें उदयस्थानों को बतलाते हैं—

इत्तो चउबंधाई इक्केक्कुदया हवंति सव्वे वि।
बंधोवरमे वि तहा उदयाभावे वि वा होज्जा ॥१७॥

अर्थ—पाँच प्रकृतिक बन्धके बाद चार, तीन, दो और एक प्रकृतियोंका बन्ध होने पर सब उदय एक एक प्रकृतिक होते हैं। तथा बन्धके अभावमें भी एक प्रकृतिक उदय होता है। किन्तु उदयके अभावमें मोहनीय कर्मकी सत्ता विकल्पसे होती है ॥

विशेषार्थ—इस गाथामें चार प्रकृतिक बन्ध आदिमें उदय कितनी प्रकृतियोंका होता है यह बतलाया है। पुरुषवेदका बन्ध-

यद्यपि यहाँ बन्धस्थान और उदयस्थानोंके परस्पर संवेधका विचार किया जा रहा है अतः गाथामें सत्त्वस्थानके उल्लेखकी आवश्यकता नहीं थी फिर भी प्रसंगवश यहाँ इसका संकेतमात्र किया है।

अब दससे लेकर एक पर्यन्त उदयस्थानोंमें जितने भंग सम्भव हैं उनके दिखलानेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

> एक्केगछक्केक्कारस दस सत्त चउक्क एक्कगा चेव।
> एए चउवीसगया चउवीस दुगेक्कमिक्कारा ॥१८॥

अर्थ—दस प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंमें क्रमसे एक, छह, ग्यारह, दस, सात, चार और एक इतने चौबीस विकल्परूप भंग होते हैं। तथा दो प्रकृतिक उदयस्थानमें चौबीस और एक प्रकृतिक उदयस्थानमें ग्यारह भंग होते हैं॥

विशेषार्थ—पहले दस प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंमें कहाँ कितनी भंगोंकी चौबीसी होती हैं यह पृथक् पृथक् बतला आये हैं

---

(१) 'एक्कगछक्केक्कारस दस सत्त चउक्क एक्कगं चेव। दोसु च बारस भंगा एक्कम्हि य होंति चत्तारि॥' कसाय० (वेदकाधिकार)। '···चउवीसा। एक्कगच्छक्केक्कारस दस सत्त चउक्क एक्काओ॥'—कर्म प्र० उदी० गा० २४। धव० उदी०, आ० प० १०२२। 'दसगाइसु चउवीसा एक्कछिक्कारदससगचउक्कं। एक्का य।'—पञ्चसं० सप्तति० गा० २७। 'एक्कयछक्केयारं दससगचदुरेक्कयं अपुणरुत्ता। एदे चदुवीसगदा बार दुगे पंच एक्कम्मि॥'—गो० कर्म० गा० ४८८।

(२) सप्ततिका नामक षष्ठ कर्मग्रन्थके टबेमें इस गाथाका चौथा दो प्रकारसे निर्दिष्ट किया है। स्वमतरूपसे 'बार दुगिक्कम्मि इक्कारा' प्रकार और मतान्तररूपसे 'चउवीस दुगिक्कमिक्कारा' इस प्रकार निर्दिष्ट है। प्रथम पाठके अनुसार स्वमतसे दो प्रकृतिक उदयस्थानमें १२ भंग

यहाँ अब उनकी समुच्चयरूप संख्या बतलाई है। जिसका खुलासा इस प्रकार है—दस प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी एक चौबीसी होती है यह स्पष्ट ही है, क्योंकि वहाँ और प्रकृतिविकल्प सम्भव नहीं। नौ प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी कुल छह चौबीसी होती हैं। यथा–बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसकी तीन चौबीसी, इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी एक चौबीसी, मिश्र गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी एक चौबीसी और चौथे गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होताहै उसके भंगोंकी एक चौबीसी इस प्रकार नौ प्रकृतिक उदयस्थानके भंगोंकी कुल छह चौबीसी हुई। आठ

प्राप्त होते हैं और दूसरे पाठके अनुसार मतान्तरसे दो प्रकृतिक उदयस्थानमें २४ भंग प्राप्त होते हैं। मलयगिरि आचार्यने अपनी टीकामें इसी अभिप्रायकी पुष्टि की है। यथा—

'द्विकोदये चतुर्विंशतिरेका भङ्गकानाम्, एतच्च मतान्तरेणोक्तम्। अन्यथा स्वमते द्वादशैव भङ्गा वेदितव्याः।'

अर्थात् दो प्रकृतिक उदयस्थानमें चौबीस भंग होते हैं। सो यह कथन अन्य आचार्योंके अभिप्रायानुसार किया है। अन्यथा स्वमतसे तो दो प्रकृतिक उदयस्थानमें कुल बारह भंग ही होते हैं।

इस सप्ततिकाप्रकरणकी गाथा १६ में पाँच प्रकृतिक बन्धस्थानके समय दो प्रकृतिक उदयस्थान और गाथा १७ में चार प्रकृतिक बन्धस्थानके समय एक प्रकृतिक उदयस्थान बतलाया है। इससे जो स्वमतसे १२ और मतान्तरसे २४ भंगोंका निर्देश किया है उसकी ही पुष्टि होती है। पंचसं- सप्ततिकाप्रकरण और कर्मकाण्डमें भी इन मतभेदोंका निर्देश किया है।

यद्यपि यहाँ बन्धस्थान और उदयस्थानोंके परस्पर संवेधका विचार किया जा रहा है अतः गाथामें सत्त्वस्थानके उल्लेखकी आवश्यकता नहीं थी फिर भी प्रसंगवश यहाँ इसका संकेतमात्र किया है।

अब दससे लेकर एक पर्यन्त उदयस्थानोंमें जितने भंग सम्भव हैं उनके दिखलानेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

एक्कगछक्केक्कारस दस सत्त चउक्क एक्कगा चेव।
एए चउवीसगया चउवीस दुगेक्कमिक्कारा ॥१८॥

अर्थ—दस प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंमें क्रमसे एक, छह, ग्यारह, दस, सात, चार और एक इतने चौबीस विकल्परूप भंग होते हैं। तथा दो प्रकृतिक उदयस्थानमें चौबीस और एक प्रकृतिक उदयस्थानमें ग्यारह भंग होते हैं॥

विशेषार्थ—पहले दस प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंमें कहाँ कितनी भंगोंकी चौबीसी होती हैं यह पृथक् पृथक् बतला आये हैं

(१) 'एक्कगछक्केक्कारस दस सत्त चउक्क एक्कगं चेव। दोसु च बारस भंगा एक्कम्हि य होंति चत्तारि॥' कसाय० (वेदकाधिकार)। '···चउवीसा। एक्कगच्छक्केक्कारस दस सत्त चउक्क एक्काओ॥'—कर्म प्र० उदी० गा० २४। धव० उदी०, आ० प० १०२२। 'दसगाइसु चउवीसा एक्काछिक्कारदससगचउक्कं। एक्का य।' —पञ्चसं० सप्तति० गा० २७। 'एक्कयछक्केयारं दससगचदुरेक्कयं अपुणरुत्ता। एदे चदुवीसगदा बार दुगे पंच एक्कम्मि॥'—गो० कर्म० गा० ४८८।

(२) सप्ततिका नामक षष्ठ कर्मग्रन्थके टबेमें इस गाथाका चौथा चरण दो प्रकारसे निर्दिष्ट किया है। स्वमतरूपसे 'बार दुगिक्कम्मि इक्कारा' इस प्रकार और मतान्तररूपसे 'चउवीस दुगिक्कमिक्कारा' इस प्रकार निर्दिष्ट है। प्रथम पाठके अनुसार स्वमतसे दो प्रकृतिक उदयस्थानमें १२ भंग

यहाँ अब उनकी समुच्चयरूप संख्या बतलाई है। जिसका खुलासा इस प्रकार है—दस प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी एक चौबीसी होती है यह स्पष्ट ही है, क्योंकि वहाँ और प्रकृतिविकल्प सम्भव नहीं। नौ प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी कुल छह चौबीसी होती हैं। यथा—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसकी तीन चौबीसी, इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी एक चौबीसी, मिश्र गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी एक चौबीसी और चौथे गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धके समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होताहै उसके भंगोंकी एक चौबीसी इस प्रकार नौ प्रकृतिक उदयस्थानके भंगोंकी कुल छह चौबीसी हुई। आठ

प्राप्त होते हैं और दूसरे पाठके अनुसार मतान्तरसे दो प्रकृतिक उदयस्थानमें २४ भंग प्राप्त होते हैं। मलयगिरि आचार्यने अपनी टीकामें इसी अभिप्रायकी पुष्टि की है। यथा—

'द्विकोदये चतुर्विंशतिरेका भङ्गकानाम्, एतच्च मतान्तरेणोक्तम्। अन्यथा स्वमते द्वादशैव भङ्गा वेदितव्याः।'

अर्थात् दो प्रकृतिक उदयस्थानमें चौबीस भंग होते हैं। सो यह कथन अन्य आचार्योंके अभिप्रायानुसार किया है। अन्यथा स्वमतसे तो दो प्रकृतिक उदयस्थानमें कुल बारह भंग ही होते हैं।

इस सप्ततिकाप्रकरणकी गाथा १६ में पाँच प्रकृतिक बन्धस्थानके समय दो प्रकृतिक उदयस्थान और गाथा १७ में चार प्रकृतिक बन्धस्थानके समय एक प्रकृतिक उदयस्थान बतलाया है। इससे जो स्वमतसे १२ और मतान्तरसे २४ भंगोंका निर्देश किया है उसकी ही पुष्टि होती है। पंचसंग्रह सप्ततिकाप्रकरण और कर्मकाण्डमें भी इन मतभेदोंका निर्देश किया है।

प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी कुल ग्यारह चौबीसी होती हैं। यथा–बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी कुल तीन चौबीसी, इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी कुल दो चौबीसी, मिश्र गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी कुल दो चौबीसी, चौथे गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी कुल तीन चौबीसी और पाँचवें गुणस्थानमें तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी कुल एक चौबीसी इस प्रकार आठ प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी कुल ग्यारह चौबीसी हुईं। सात प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी कुल दस चौबीसी होती हैं। यथा–बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी एक चौबीसी, इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी एक चौबीसी, मिश्र गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी एक चौबीसी, चौथे गुणस्थानमें सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी तीन चौबीसी, तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानके समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी तीन चौबीसी और नौ प्रकृतिक बन्धस्थानके ... जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी एक चौबीसी इस प्रकार सात प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी कुल दस चौबीसी होती हैं। छः प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी कुल सात चौबीसी होती हैं। यथा—अविरतसम्यग्दृष्टिके सत्रह प्रकृतिक

बन्धस्थानके समय जो छह प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी कुल एक चौबीसी, तेरह प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक बन्धस्थानमें जो छह प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगों की कुल तीन तीन चौबीसी इस प्रकार छह प्रकृतिक उदयस्थानके भंगोंकी कुल सात चौबीसी हुईं। पाँच प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी कुल चार चौबीसी होती हैं। यथा—तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानमें जो पाँच प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी कुल एक चौबीसी और नौ प्रकृतिक बन्धस्थानमें जो पाँच प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगोंकी कुल तीन चौबीसी इस प्रकार पाँच प्रकृतिक उदयस्थानमें भंगोंकी कुल चार चौबीसी प्राप्त हुईं। तथा नौ प्रकृतिक बन्धके समय चार प्रकृतिक उदयके भंगोंकी एक चौबीसी होती है। इस प्रकार दससे लेकर चार पर्यन्त उदयस्थानोंके भंगोंकी कुल १+६+११+१०+७+४+१=४० चौबीसी होती है। तथा पाँच प्रकृतिक बन्धके समय दो प्रकृतिक उदयके भंग बारह होते हैं और चार प्रकृतिक बन्धके समय भी दो प्रकृतिक उदय सम्भव है ऐसा कुछ आचार्योंका मत है अतः इस प्रकार भी दो प्रकृतिक उदयस्थानके बारह भंग प्राप्त हुए। इस प्रकार दो प्रकृतिक उदयस्थानके भंगोंकी एक चौबीसी होती है। तथा चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक बन्धस्थानके और अबन्धके समय एक प्रकृतिक उदयस्थानके क्रमशः चार, तीन, दो, एक और एक भंग होते हैं जिनका जोड़ ग्यारह होता है, अतः एक प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग ग्यारह होते हैं। इस प्रकार इस गाथामें मोहनीयके सब उदयस्थानोंमें सब भंगोंकी कुल चौबीसी कितनी और फुटकर भंग कितने होते हैं यह बतलाया है।

अब इन भंगोंकी कुल संख्या कितनी होती है यह बतलाते हैं—

नवपंचाणउइसएहुदयविगप्पेहिँ मोहिया जीवा।

अर्थ—संसारी जीव नौ सौ पंचानवे उदय विकल्पोंसे मोहित हैं।

विशेषार्थ—इससे पहलेकी चार गाथाओंमें मोहनीय कर्मके उदयस्थानोंके भंग बतला आये हैं। यहाँ 'उदयविकल्प' पदद्वारा उन्हींका ग्रहण किया है। किन्तु पहले उन उदयस्थानोंके भंगोंकी कहाँ कितनी चौबीसी प्राप्त होती हैं यह बतलाया है। अब यहाँ यह बतलाया है कि उनकी कुल संख्या कितनी होती है। प्रत्येक चौबीसीमें चौबीस भंग हैं और उन चौबीसियोंकी कुल संख्या इकतालीस है अतः इकतालीसको चौबीससे गुणित कर देने पर नौ सौ चौरासी प्राप्त होते हैं। किन्तु इस संख्यामें एक प्रकृतिक उदयस्थानके भंग सम्मिलित नहीं हैं जो कि ग्यारह हैं। अतः उनके और मिला देने पर कुल संख्या नौ सौ पंचानवे होती है। संसारमें दसवें गुणस्थान तकके जितने जीव हैं उनमेंसे प्रत्येक जीव के इन ९९५ भंगोंमेंसे यथासम्भव किसी न किसी एक भंग का उदय अवश्य है जिससे वे निरन्तर मूर्च्छित हो रहे हैं। यही सबब है कि ग्रन्थकारने सब संसारी जीवोंको इन उदय विकल्पोंसे मोहित कहा है। जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं यहाँ जीवोंसे सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तकके जीव ही लेना चाहिये, क्योंकि मोहनीय कर्मका उदय वहीं तक पाया जाता है। यद्यपि उपशान्तमोही जीवोंका जब स्वस्थानसे पतन होता है तब वे भी इस मोहनीयके झपेटेमें आ जाते हैं, किन्तु कमसे कम एक समय के लिये और अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्तके लिये वे मोहनीयके उदयसे रहित हैं अतः उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया।

---

(१) चउबन्धगे वि बारस दुगोदया जाण तेहि छूढेहिं। बन्धगभेएणेवं पंचूणसहस्समुदयाणं॥'—पञ्चसं० सप्तति० गा० २९।

बंधस्थान उदयस्थानोंके संबंध भंगोंका ज्ञापक कोष्ठक
[१७]

गुणस्थान	बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग
१ ला	२२	६	७, ८, ९, १०	८ चौबीसी
२ रा	२१	४	७, ८, ९	४ चौबीसी
३ रा	१७	२	७, ८, ९	४ चौबीसी
४ था	१७	२	६, ७, ८, ९	८ ,,
५ वाँ	१३	२	५, ६, ७, ८	८ ,,
६ से ८	९	२	४, ५, ६, ७	८ ,,
९ वाँ	५	१	२	१२ भंग
,,	४	१	२	,,
,,	४	१	१	४ भंग
,,	३	१	१	३ भंग
,,	२	१	१	२ भंग
,,	१	१	१	१ भंग
१० वाँ	०	०	१	१ भंग

इस संख्यामें एक प्रकृतिक उदयस्थानके ग्यारह भंग सम्मिलित नहीं हैं अतः उनके मिला देने पर कुल संख्या ६९७१ प्राप्त होती है। ये सब प्रकृतिविकल्प हुए। दसवें गुणस्थान तकके सब संसारी जीव इतने विकल्पोंसे निरन्तर मोहित हैं यह उक्त गाथाके उत्तरार्धका तात्पर्य है। यहाँ इतना विशेष जानना कि पहले जो मतान्तरसे चार प्रकृतिक बन्धके संक्रमकालके समय दो प्रकृतिक उदयस्थानमें बारह भंग बतलाये हैं उनको सम्मिलित करके ही यह उदयस्थानोंकी संख्या और पदसंख्या कही गई है।

पदसंख्याका ज्ञापक कोष्ठक

[१९]

उदयस्थान		संख्या		प्रकृतियाँ		भंग		कुल
१०	×	१	=	१०	×	२४	=	२४०
९	×	६	=	५४	×	२४	=	१२९६
८	×	११	=	८८	×	२४	=	२११२
७	×	१०	=	७०	×	२४	=	१६८०
६	×	७	=	४२	×	२४	=	१००८
५	×	४	=	२०	×	२४	=	४८०
४	×	१	=	४	×	२४	=	९६
२	×	१	=	२	×	२४	=	४८
१	×	१	=	१	×	११	=	११

कुल ६९७१

२७०

अब पदसंख्या बतलाते हैं—

अउणुत्तरिएगुत्तरिपयविंदसएहिं विन्नेया ॥१९॥

अर्थ—तथा ये संसारी जीव उनहत्तर सौ इकहत्तर अर्थात् छह हजार नौ सौ इकहत्तर पदसमुदायोंसे मोहित जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ मिथ्यात्व, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि प्रत्येक प्रकृतिको पद और उनके समुदायको पदवृन्द कहा है। इसीका दूसरा नाम प्रकृतिविकल्प भी है। आशय यह है कि उपर्युक्त दस प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंमें जितनी प्रकृतियाँ हैं वे सब पद हैं और उनके भेदसे जितने भंग होंगे वे सब पदवृन्द या प्रकृतिविकल्प कहलाते हैं। प्रकृतमें इस प्रकार कुल भेद ६९७१ होते हैं। खुलासा इस प्रकार है—दस प्रकृतिक उदयस्थान एक है अतः उसकी दस प्रकृतियाँ हुई। नौ प्रकृतिक उदयस्थान छह हैं, अतः उनकी चौवन प्रकृतियाँ हुई। आठ प्रकृतिक उदयस्थान ग्यारह हैं, अतः उनकी अठासी प्रकृतियाँ हुई। सात प्रकृतिक उदयस्थान दस हैं, अतः उनकी सत्तर प्रकृतियाँ हुई। छह प्रकृतिक उदयस्थान सात हैं, अतः उनकी बयालीस प्रकृतियाँ हुई। पाँच प्रकृतिक उदयस्थान चार हैं, अतः उनकी बीस प्रकृतियाँ हुई। चार प्रकृतिक उदयस्थान एक है, अतः उसकी चार प्रकृतियाँ हुई। और दो प्रकृतिक उदयस्थान एक है, अतः उसकी दो प्रकृतियाँ हुई। अनन्तर इन सब प्रकृतियोंको मिलाने पर कुल जोड़ १०+५४+८८+७०+४२+२०+४+२=२९० होता है। इन प्रकृतियोंमेंसे प्रत्येकमें चौवीस-चौवीस भंग प्राप्त होते हैं, अतः २९० को २४ से गुणित कर देने पर ६९६० प्राप्त हुए। पर

(१) सप्ततिकप्रकरण नामक षष्ठ कर्मग्रन्थके टबेमें यह गाथा 'नवतेसीयसएहिं' इत्यादि गाथाके बाद दी है।

ये दस आदिक जितने उदयस्थान और उनके भंग बतलाये

जिसके अनुसार सप्ततिकाप्रकरणमें ९९५ उदयविकल्प होते हैं। दूसरे प्रकारमें सप्ततिकाप्रकरणके ९८३ वाले प्रकारसे थोड़ा अन्तर पड़ जाता है। बात यह है कि यहाँ सप्ततिकाप्रकरणमें एक प्रकृतिक उदयके बन्धाबन्धकी अपेक्षा ११ भंग लिये हैं और पंचसंग्रहके सप्ततिकामें उदयकी अपेक्षा प्रकृतिभेदसे कुल ४ भंग लिये हैं इसलिये ९८३ मेंसे ७ घटकर कुल ९७६ उदयविकल्प रह जाते हैं। किन्तु पंचसंग्रहके सप्ततिकामें तीसरे प्रकारसे उदयविकल्प गिनाते हुए गुणस्थानभेदसे उनकी संख्या १२६५ कर दी गई है। विधि सुगम है इसलिये उनका विशेष विवरण नहीं दिया है।

दिगम्बर परम्परामें सबसे पहले कसायपाहुडमें इन उदयविकल्पोंका उल्लेख मिलता है। वहाँ भी पञ्चसंग्रह सप्ततिकाके दूसरे प्रकारके अनुसार ९७६ उदयविकल्प बतलाये हैं। कर्मकाण्डमें भी इनकी संख्या बतलाई है। पर वहाँ इनके दो भेद कर दिये हैं। एक पुनरुक्त भंग और दूसरे अपुनरुक्त भंग। पुनरुक्त भंग १२८३ गिनाये हैं। १२६५ तो वे ही हैं जो पञ्चसंग्रहके सप्ततिकामें गिनाये हैं। किन्तु कर्मकाण्डमें चार प्रकृतिकबन्धमें दो प्रकृतिक उदयकी अपेक्षा १२ भंग और लिये हैं। तथा पञ्चसंग्रहसप्ततिकामें एक प्रकृतिक उदयके जो पाँच भंग लिये हैं वे यहाँ ११ कर लिये गये हैं। इस प्रकार पञ्चसंग्रह सप्ततिकासे १८ भंग बढ़कर कर्मकाण्डमें उनकी संख्या १२८३ हो गई है। तथा कर्मकाण्डमें अपुनरुक्त भंग ९७७ गिनाये हैं। सो यहाँ भी एक प्रकृतिक उदयका गुणस्थान भेदसे एक भंग अधिक कर दिया गया है और इस प्रकार ९७६ के स्थानमें ९७७ भंग हो जाते हैं।

यद्यपि यहाँ हमें संख्याओंमें अन्तर दिखाई देता है पर वह विवक्षाभेद ही है मान्यता भेद नहीं।

इसी प्रकार इस सप्ततिका प्रकरणमें मोहनीयके पदवृन्द दो प्रकारसे बतलाये हैं। एक ६९७१ और दूसरे ६९४७। जब चार प्रकृतिक बन्धके समय कुछ काल तक दो प्रकृतिक उदय होता है इस मतको स्वीकार कर

प्रत्येक उदयस्थानमें किसी एक वेद और किसी एक युगलका उदय अवश्य होता है और वेद तथा युगलका एक मुहूर्तके भीतर अवश्य ही परिवर्तन होता है। पंचसंग्रहकी मूल टीकामें भी बतलाया है—

'यतो युग्मेन वेदेन वाऽवश्यमन्तर्मुहूर्तादारतः परावर्तितव्यम् ।'

'अर्थात् चूंकि एक अन्तर्मुहूर्तके भीतर किसी एक युगलका और किसी एक वेदका अवश्य परिवर्तन होता है, अतः चार आदि उदयस्थानोंका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।'

इससे निश्चित होता है कि इन चार प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंका और उनके भंगोंका जो उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त

उक्कस्सेणंतोमुहुत्तं ।'—कसाय० चु० (वेदअधिकार)। 'अंतमुहुत्तिय-उदया समयादारब्भ भंगा य।'—पंचसं सप्तति० गा० ३३। धव० उदी० प० आ० १०२२।

(१) षट्खण्डागम सत्प्ररूपणासूत्र १०७ की धवला टीकामें लिखा है कि जैसे कषाय अन्तर्मुहूर्तमें बदल जाती है वैसे वेद अन्तर्मुहूर्तमें नहीं बदलता किन्तु वह जन्मसे लेकर मरण तक एक ही रहता है। यथा—

'कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदाः, आजन्मनः आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात् ।'

प्रज्ञापनामें जो पुरुषवेद आदिका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त आदि और उत्कृष्ट काल साधिक सौ सागर पृथक्त्व आदि बतलाया है इससे भी यही ज्ञात होता है कि पर्याय भर वेद एक ही रहता है।

इस लिये अन्तर्मुहूर्तमें वेद अवश्य बदल जाता है इस नियमको छोड़कर एक प्रकृतिक उदयस्थान आदिका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त करते समय उसे अन्य प्रकारसे भी प्राप्त करना चाहिये। यथा—उपशमश्रेणिपर चढ़ते समय या उतरते समय कोई एक जीव एक प्रकृतिक उदयस्थानको एक समय तक प्राप्त हुआ और दूसरे समयमें मर कर वह देव

हैं उनका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।
चार प्रकृतिक उदयस्थानसे लेकर दस प्रकृतिक उदयस्थान तकके

लिया जाता है तब १५७१ पदवृन्द प्राप्त होते हैं और जब इस मतको छोड़ दिया जाता है तब १५४७ पदवृन्द प्राप्त होते हैं। पञ्चसंग्रहके सप्ततिकामें ये दो संख्याएँ तो बतलाई ही हैं किन्तु इनके अतिरिक्त चार प्रकारके पदवृन्द और बतलाये हैं। इनमें से पहला प्रकार १५४० का है। सो यहाँ बन्धाबन्धके भेदसे एक प्रकृतिक उदयके ११ भंग न लेकर कुल ४ भंग लिये हैं और इस प्रकार १५४७ मेंसे ७ भंग कम होकर १५४० संख्या प्राप्त होती है। शेष तीन प्रकारके पदवृन्द गुणस्थानभेदसे बतलाये हैं। जो क्रमशः ८४७७, ८४८२ और ८५०७ प्राप्त होते हैं। इनका व्याख्यान सुगम है इसलिये संकेतमात्र कर दिया है।

दिगम्बर परम्परामें ये पदवृन्द कर्मकाण्डमें बतलाये हैं। वहाँ इनकी प्रकृति विकल्प संज्ञा दी है। कर्मकाण्डमें जैसे उदयविकल्प दो प्रकारसे बतलाये हैं। वैसे प्रकृतिविकल्प भी दो प्रकारसे बतलाये हैं। पुनरुक्त उदयविकल्पोंकी अपेक्षा इनकी संख्या ८५०७ बतलाई है और अपुनरुक्त उदयविकल्पोंकी अपेक्षा इनकी संख्या ६६४१ बतलाई है। पञ्चसंग्रहसप्ततिकामें गुणस्थान भेदसे जो ८५०७ पदवृन्द बतलाये हैं वे और कर्मकाण्डके पुनरुक्त प्रकृतिविकल्प एक हैं। तथा पञ्चसंग्रहसप्ततिकामें जो ६६४० पदवृन्द बतलाये हैं उनमें १ भंग और मिला देने पर कर्मकाण्डमें बतलाये गये ६६४१ प्रकृतिविकल्प हो जाते हैं। यहाँ पचसंग्रहसप्ततिकामें एक प्रकृतिक उदयस्थानके कुल ४ भंग लिये गये हैं और कर्मकाण्डमें गुणस्थानभेदसे ५ लिये गये हैं [illegible] एक भंग बढ़ गया है।

यहाँ भी यद्यपि संख्याओंमें थोड़ा बहुत अन्तर दिखाई देता है, पर वह [illegible]से ही अन्तर है मान्यताभेद से नहीं।

(१) 'एक्किस्से दोण्हं चदुण्हं पंचण्हं छण्हं सत्तण्हं अट्ठण्हं णवण्हं दसण्हं पयडीणं पवेसगो केवचिरं कालादो होदि? जहण्णेण एयसमओ।

प्रत्येक उदयस्थानमें किसी एक वेद और किसी एक युगलका उदय अवश्य होता है और वेद तथा युगलका एक मुहूर्तके भीतर अवश्य ही परिवर्तन होता है। पंचसंग्रहकी मूल टीकामें भी बतलाया है—

'यतो युग्मेन वेदेन वाऽवश्यमन्तर्मुहूर्तादारतः परावर्त्तितव्यम्।'

'अर्थात् चूंकि एक अन्तर्मुहूर्तके भीतर किसी एक युगलका और किसी एक वेदका अवश्य परिवर्तन होता है, अतः चार आदि उदयस्थानोंका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।'

इससे निश्चित होता है कि इन चार प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंका और उनके भंगोंका जो उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त

उक्कस्सेणंतोमुहुत्तं।'—कषाय० चु० (वेदाधिकार)। 'अंतमुहुत्तिय-उदया समयादारब्भ भंगा य।'—पंचसं सप्तति० गा० ३३। धव० उदी० प० आ० १०२२।

(१) षट्खण्डागम सत्प्ररूपणासूत्र १०७ की धवला टीकामें लिखा है कि जैसे कषाय अन्तर्मुहूर्तमें बदल जाती है वैसे वेद अन्तर्मुहूर्तमें नहीं बदलता किन्तु वह जन्मसे लेकर मरण तक एक ही रहता है। यथा—

'कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदाः, आजन्मनः आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात्।'

प्रज्ञापनामें जो पुरुषवेद आदिका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त आदि और उत्कृष्ट काल साधिक सौ सागर पृथक्त्व आदि बतलाया है इससे भी यही ज्ञात होता है कि पर्याय भर वेद एक ही रहता है।

इस लिये अन्तर्मुहूर्तमें वेद अवश्य बदल जाता है इस नियमको छोड़कर एक प्रकृतिक उदयस्थान आदिका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त करते समय उसे अन्य प्रकारसे भी प्राप्त करना चाहिये। यथा—उपशमश्रेणिपर चढ़ते समय या उतरते समय कोई एक जीव एक प्रकृतिक उदयस्थानको एक समय तक प्राप्त हुआ और दूसरे समयमें मर कर वह देव

कहा है वह ठीक ही कहा है। अब रहे दो और एक प्रकृतिक उदयस्थान सो ये अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त कालतक ही पाये जाते हैं, अतः इनका भी उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त ही है। इन सब उदयस्थानोंका जघन्य काल एक समय कैसे है, अब इसका खुलासा करते हैं—जब कोई एक जीव किसी विवक्षित उदयस्थानमें या उनके किसी एक विवक्षित भंगमें एक समय तक रहकर दूसरे समयमें मरकर या परिवर्तनक्रमसे किसी अन्य गुणस्थानको प्राप्त होता है तब उसके गुणस्थानमें भेद हो जाता है, बन्धस्थान भी बदल जाता है और गुणस्थानके अनुसार उदयस्थान और उसके भंगोंमें भी फरक पड़ जाता है, अतः सब उदयस्थानोंका और उनके भंगोंका जघन्य काल एक समय प्राप्त होता है। इस प्रकार बन्धस्थानोंका उदयस्थानोंके साथ परस्पर संवेधका कथन समाप्त हुआ।

हो गया तो एक प्रकृतिक उदयस्थानका जघन्य काल एक समय प्राप्त हो जाता है। दो प्रकृतिक उदयस्थानके जघन्य काल एक समयको भी इसी प्रकार प्राप्त करना चाहिये। जो जीव उपशमश्रेणिसे उतरकर अपूर्व करणमें एक समय तक भय और जुगुप्सा के बिना चार प्रकृतिक उदयस्थानको प्राप्त होता है और दूसरे समयमें मर कर देव हो जाता है या भय और जुगुप्साके उदयके बिना चार प्रकृतियोंके साथ अपूर्व करणमें प्रवेश करता है और दूसरे समयमें भय या जुगुप्सा या दोनोंका उदय हो जाता है। उसके चार प्रकृतिक उदयस्थान का जघन्य काल एक समय प्राप्त होता है। इसी प्रकार आगे के उदयस्थानोंका जघन्य काल एक समय यथासम्भव प्रकृतिपरिवर्तन, गुणस्थान परिवर्तन और मरण की अपेक्षा से प्राप्त कर लेना चाहिये। यह तो जघन्य काल की चर्चा हुई। अब उत्कृष्ट कालका विचार करते हैं—

एक प्रकृतिक उदयस्थान या दो प्रकृतिक उदयस्थान ये उपशमश्रेणि या

अब सत्त्वस्थानोंके साथ बन्धस्थानों का कथन करते हैं—

तिन्नेव य बावीसे इगवीसे अट्ठवीस सत्तरसे।
छच्चेव तेरनवबंधगेसु पंचेव ठाणाइं ॥२१॥
पंचविहचउविहेसुं छ छक्क सेसेसु जाण पंचेव।
पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि य बंधवोच्छेए ॥२२॥

अर्थ—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें तीन, इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक अट्ठाईस प्रकृतिक, सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थानमें छह, तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानमें पाँच, नौ प्रकृतिक बन्धस्थानमें पाँच, पाँच प्रकृतिक बन्धस्थानमें छह, चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें छह और शेष बन्धस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें पाँच पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। तथा बन्धके अभावमें चार सत्त्वस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—पहले १५, १६ और १७ नम्बरकी गाथाओंमें मोहनीय कर्मके बन्धस्थान और उदयस्थानोंके परस्पर संवेधका कथन कर ही आये हैं। अब यहाँ इन दो गाथाओंमें मोहनीय कर्मके बन्धस्थान और सत्त्वस्थानोंके परस्पर संवेधका निर्देश किया है। किन्तु बन्धस्थान आदि तीनोंके परस्पर संवेधका कथन करना भी जरूरी है, अतः यहाँ बन्धस्थान और सत्त्वस्थानों के

उपशमश्रेणिमें प्राप्त होते हैं और इनका काल अन्तर्मुहूर्त है अतः इन उदयस्थानों का भी उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है। तथा आगेके उदयस्थानोंका अन्तर्मुहूर्तकाल भय और जुगुप्साके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उदयकालकी अपेक्षा प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि इनका उदय अन्तर्मुहूर्तकाल तक ही होता है अधिक नहीं। इसी प्रकार इनका अनुदय भी अन्तर्मुहूर्तसे अधिक काल तक नहीं पाया जाता है, अतः चार प्रकृतिक आदि उदयस्थानों का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त इस अपेक्षासे प्राप्त होता है यह सिद्ध हुआ। यह व्याख्यान हमने जयधवलाटीकाके आधारसे किया है।

सम्यग्दृष्टि और वेदकसम्यग्दृष्टि जीवोंके होते हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थान उन्हींके होता है जिन जीवोंने अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना कर दी है। २३ और २२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान केवल वेदक सम्यग्दृष्टि जीवोंके ही होते हैं, क्योंकि आठ वर्षकी या इससे अधिककी आयुवाला जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव क्षपणाके लिये उद्यत होता है उसके अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्वका क्षय हो जाने पर २३ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। फिर इसीके सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय हो जाने पर २२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यह २२ प्रकृतियोंकी सत्तावाला जीव सम्यक्त्व प्रकृतिका क्षय करते समय जब उसके अन्तिम भागमें रहता है और कदाचित् इसने पहले परभव सम्बन्धी आयुका बन्ध कर लिया हो तो मरकर चारों गतियोंमें उत्पन्न होता है। कहा भी है—

'पट्ठवगो उ मणुसो निट्ठवगो चउसु वि गईसु ॥'

अर्थात् 'दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रारम्भ केवल मनुष्य ही करता है किन्तु उसकी समाप्ति चारों गतियोंमें होती है।'

इससे सिद्ध हुआ कि २२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान चारों गतियोंमें प्राप्त होता है, किन्तु २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंके ही प्राप्त होता है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी चार और तीन दर्शनमोहनीय इन सातके क्षय होने पर ही क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। इसी प्रकार आठ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए भी सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि जीवोंके क्रमशः पूर्वोक्त तीन और पाँच सत्त्वस्थान होते हैं, तथा नौ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए भी इसी प्रकार जानना चाहिये, किन्तु अविरतोंके नौ प्रकृतिक उदयस्थान वेदकसम्यग्दृष्टियोंके ही होता है और वेदक

सम्यग्दृष्टियोंके २८, २४, २३ और २२ ये चार सत्त्वस्थान ही पाये जाते हैं, अतः यहाँ भी उक्त चार सत्त्वस्थान होते हैं।

सम्यग्मिथ्यादृष्टिके १७ प्रकृतिक एक बन्धस्थान, ७ प्रकृतिक, ८ प्रकृतिक और ९ प्रकृतिक ये तीन उदयस्थान और २८, २७ तथा २४ प्रकृतिक तीन सत्त्वस्थान होते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टियोंमें उपशमसम्यग्दृष्टिके १७ प्रकृतिक एक बन्धस्थान, ६, ७ और ८ प्रकृतिक तीन उदयस्थान तथा २८ और २४ प्रकृतिक दो सत्त्वस्थान होते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टिके १७ प्रकृतिक एक बन्धस्थान, ६, ७ और ८ प्रकृतिक तीन उदयस्थान तथा २१ प्रकृतिक एक सत्त्वस्थान होता है। वेदक सम्यग्दृष्टिके १७ प्रकृतिक एक बन्धस्थान, ७, ८ और ९ प्रकृतिक तीन उदयस्थान तथा २८, २४, २३ और २२ प्रकृतिक चार सत्त्वस्थान होते हैं ऐसा जानना चाहिये। इनके परस्पर संवेधका कथन पहले ही किया है, अतः यहाँ किसके कितने बन्धादि स्थान होते हैं इसका निर्देशमात्र किया है।

तेरह और नौ प्रकृतिक बन्धस्थानके रहते हुए प्रत्येकमें २८, २४, २३, २२ और २१ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। १३ प्रकृतियों का बन्ध देशविरतोंके होता है। देशविरत दो प्रकारके हैं तिर्यंच और मनुष्य। इनमें से जो तिर्यंच देशविरत हैं उनके चारों ही उदयस्थानोंमें २८ और २४ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। सो २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान तो उपशम सम्यग्दृष्टि और वेदक सम्यग्दृष्टि इन दोनों प्रकारके तिर्यंच देशविरतोंके होता है। उसमें भी जो प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेके समय ही देशविरतको प्राप्त कर लेता है, उसी देशविरतके उपशमसम्यक्त्वके रहते हुए २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है, क्योंकि अन्तरकरणके काल में विद्यमान कोई भी औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव देशविरतिको प्राप्त

करता है और कोई मनुष्य सर्वविरतिको भी प्राप्त करता है, ऐसा नियम है। शतक बृहच्चूर्णिमें भी कहा है—

'उवसमसम्माइट्ठी अंतरकरणे ठिओ कोइ देसविरइं कोइ पमत्तापमत्तभावं पि गच्छइ सासायणो पुण न किमवि लहइ।'

अर्थात् 'अन्तरकरणमें स्थित कोई उपशम सम्यग्दृष्टि जीव देशविरतिको प्राप्त होता है और कोई प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त संयत भावको भी प्राप्त होता है, परन्तु सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव इनमें से किसीको भी नहीं प्राप्त होता है। वह केवल मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही जाता है।'

इस प्रकार उपशम सम्यग्दृष्टि जीवको देशविरत गुणस्थानकी प्राप्ति कैसे होती है यह बतलाया, किन्तु वेदक सम्यक्त्वके साथ देशविरतिके होनेमें ऐसी खास अड़चन नहीं है, अतः देशविरत गुणस्थानमें वेदग सम्यग्दृष्टियोंके २८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान भी बन जाता है। किन्तु २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थान उन्हीं तिर्यंचोंके होता है, जिन्होंने अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना की है और ये जीव वेदक सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, क्योंकि तिर्यंचगतिमें औपशामिक सम्यग्दृष्टि के २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थानकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। इन दो सत्तास्थानोंके अतिरिक्त तिर्यंच देशविरतके शेष २३ आदि सब सत्तास्थान नहीं होते, क्योंकि वे क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करने

---

(१) जयधवला टीकामें स्वामीका निर्देश करते समय चारों गतियोंके जीवोंको २४ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका स्वामी बतलाया है। इसके अनुसार [illegible]क गतिका उपशम सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना कर है। कर्मप्रकृतिके उपशमना प्रकरणकी गाथा ३१ से भी इसकी पुष्टि [illegible] है। वहाँ चारों गतिके जीवको अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेवाला बतलाया है।

वाले जीवके ही होते हैं, परन्तु तिर्यंच क्षायिक सम्यग्दर्शनको नहीं उत्पन्न करते हैं। अतो अवस्थामें इसे तो केवल मनुष्य ही उत्पन्न करते हैं।

शंका—यद्यपि यह ठीक है कि तिर्यंचोंके २२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं होता तथापि जब मनुष्य क्षायिक सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करते हुए या उत्पन्न करके तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं तब तिर्यंचोंके भी २२ और २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान पाये जाते हैं, अतः यह कहना युक्त नहीं है कि तिर्यंचोंके २२ आदि सत्त्वस्थान नहीं होते ?

समाधान—यद्यपि यह ठीक है कि क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेवाला २२ प्रकृतियोंकी सत्तावाला जीव या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मरकर तिर्यंचोंमें उत्पन्न होता है किन्तु यह जीव संख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचोंमें उत्पन्न न होकर असंख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचोंमें ही उत्पन्न होता है और इनके देशविरति होती नहीं, और देशविरतिके न होनेसे उनके तेरह प्रकृतिक बन्धस्थान नहीं पाया जाता। परन्तु यहाँ तेरह प्रकृतिक बन्धस्थानमें सत्त्वस्थानोंका विचार किया जा रहा है अतः ऊपर जो यह कहा है कि तिर्यंचोंके २२ आदि सत्त्वस्थान नहीं होते सो वह १३ प्रकृतिक बन्धस्थानकी अपेक्षासे ठीक ही कहा है। चूर्णिमें भी कहा है—

'एगवीसा तिरिक्खेसु संजयासंजएसु न संभवइ। कहं? भण्णइ—संखेज्जवासाउएसु तिरिक्खेसु खाइगसम्मद्दिट्ठी न उववज्जइ, असंखेज्जवासाउएसु उववज्जेज्जा, तस्स देसविरई नत्थि।'

अर्थात् 'तिर्यंच संयतासंयतोंके २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं होता, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचोंमें नहीं उत्पन्न होता है। हाँ असंख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचोंमें उत्पन्न होता है पर उनके देशविरति नहीं होती।'

इस प्रकार तिर्यंचोंकी अपेक्षा विचार किया अब मनुष्योंकी अपेक्षा विचार करते हैं--

जो देशविरत मनुष्य हैं उनके पाँच प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। छह प्रकृतिक और सात प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए प्रत्येकमें २८,२४,२३,२२ और २१ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। तथा आठ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए २८,२४,२३ और २२ ये चार स्थान होते हैं। उदयस्थानगत प्रकृतियोंको ध्यानमें रखनेसे इनके कारणोंका निश्चय सुगमतापूर्वक किया जा सकता है अतः यहाँ अलग अलग विचार न करके किस उदयस्थानमें कितने सत्त्वस्थान होते हैं इसका निर्देशमात्र कर दिया है।

नौ प्रकृतिक बन्धस्थान प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीवोंके होता है। इनके उदयस्थान चार होते है ४,५,६ और ७ प्रकृतिक। सो चार प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए तो प्रत्येक गुणस्थानमें २८,२४ और २१ ये तीन ही सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि यह उदयस्थान उपशमसम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टिके ही प्राप्त होता है। पाँच प्रकृतिक और छह प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए पाँच पाँच सत्त्वस्थान होते हैं, क्योंकि ये उदयस्थान तीनों प्रकारके सम्यग्दृष्टि जीवोंके सम्भव हैं। किन्तु सात प्रकृतिक उदयस्थान वेदकसम्यग्दृष्टि जीवोंके ही होता है अतः यहाँ २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान सम्भव न होकर शेष चार ही होते हैं।

पाँच प्रकृतिक और चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें छह छह सत्त्वस्थान होते हैं। अब इसका स्पष्टीकरण करते हैं—पाँच प्रकृतिक बन्धस्थान उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिमें अनिवृत्तिबादर जीवके पुरुषवेदके बन्धकाल तक होता है और पुरुषवेदके बन्ध समय तक छह नोकषायोंका सत्त्व पाया ही जाता है अतः पाँच प्रकृतिक

बन्धस्थानमें पाँच आदि सत्त्वस्थान नहीं होते यह स्पष्ट ही है। अब रहे शेष सत्त्वस्थान सो उपशमश्रेणिकी अपेक्षा तो यहाँ २८,२४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान पाये जाते हैं, क्योंकि उपशमश्रेणि में ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं ऐसा आगम है। तथा क्षपकश्रेणिमें इसके २१, १३, १२ और ११ इस प्रकार चार सत्त्वस्थान होते हैं। जिस अनिवृत्तिबादर जीवने आठ कषायोंका क्षय नहीं किया उसके २१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। आठ कषायोंके क्षय हो जाने पर तेरह प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। फिर नपुंसकवेदका क्षय हो जाने पर बारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है और स्त्रीवेदका क्षय हो जाने पर ग्यारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। यहाँ इसके आगेके सत्त्वस्थान नहीं हैं इसका कारण पहले ही बतला दिया है। इस प्रकार पाँच प्रकृतिक बन्धस्थानमें २८,२४,२१,१३,१२ और ११ ये छः सत्त्वस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ। अब चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें जो छह सत्त्वस्थान होते हैं इसका स्पष्टीकरण करते हैं। यह तो सुनिश्चित है कि चार प्रकृतिक बन्धस्थान भी दोनों श्रेणियोंमें होता है और उपशमश्रेणिमें केवल २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं, अतः यहाँ उपशमश्रेणिकी अपेक्षा ये तीन सत्त्वस्थान प्राप्त हुए। अब रहा क्षपकश्रेणिकी अपेक्षा विचार सो ऐसा नियम है कि जो जीव नपुंसक वेदके उदयके साथ क्षपकश्रेणि पर चढ़ता है वह नपुंसकवेद और स्त्रीवेदका क्षय एक साथ करता है और इसके इसी समय पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है। तदनन्तर इसके पुरुषवेद और हास्यादि छहका एक साथ क्षय होता है। यदि कोई जीव स्त्रीवेदके उदयके साथ क्षपकश्रेणि पर चढ़ता है तो यह जीव पहले नपुंसकवेदका क्षय करता है। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त कालमें स्त्री वेदका क्षय करता है। फिर पुरुषवेद और हास्यादि छहका

एक साथ क्षय करता है। किन्तु इसके भी स्त्रीवेदकी क्षपणाके समय पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है। इस प्रकार चूंकि स्त्रीवेद और नपुंसकवेदके उदयसे क्षपकश्रेणि पर चढ़े हुए जीवके या तो स्त्रीवेदकी क्षपणाके अन्तिम समयमें या स्त्रीवेद और नपुंसकवेदकी क्षपणाके अन्तिम समयमें पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है अतः इस जीवके चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें वेदके उदयके बिना एक प्रकृतिका उदय रहते हुए ग्यारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। तथा यह जीव पुरुषवेद और हास्यादि छहका क्षय एक साथ करता है अतः इसके पाँच प्रकृतिक सत्त्व-स्थान न प्राप्त होकर चार प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। किन्तु जो जीव पुरुषवेदके उदयसे क्षपकश्रेणि पर चढ़ता है उसके छह नोकषायोंके क्षय होनेके समय ही पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति होती है, अतः इसके चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें ग्यारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं प्राप्त होता किन्तु पाँच प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। इसके यह सत्त्वस्थान दो समय कम दो आवलि

---

(१) कषायप्राभृतकी चूर्णिमें पाँच प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकारका काल एक समय कम दो आवलिप्रमाण बतलाया है। यथा—

'पंचण्हं विहत्तिओ केवचिरं कालादो ? जहण्णुक्कस्सेण दो आवलियाओ समयूणाओ।'

इसकी टीका जयधवलामें लिखा है कि क्रोधसंज्वलन और पुरुषवेदके उदयसे क्षपकश्रेणि पर चढ़े हुए जीवके सवेद भागके द्विचरम समयमें छह नोकषायोंके साथ पुरुषवेदके प्राचीन सत्कर्मका नाश होकर सवेद भागके [अन्तिम] समयमें पुरुषवेदके एक समय कम दो आवलि प्रमाण नवक समय-[प्रबद्ध] पाये जाते हैं, इसलिये पाँच प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट [दोनों] प्रकारका काल एक समय कम दो आवलि प्रमाण प्राप्त होता है।

काल तक रहकर तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त कालतक चार प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। अतः चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें २८, २४, २१, ११, ५ और ४ ये छहं सत्त्वस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ।

अब तीन, दो और एक प्रकृतिक बन्धस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें पाँच पाँच सत्त्वस्थान होते हैं इसका स्पष्टीकरण करते हैं—एक बात तो सर्वत्र सुनिश्चित है कि उपशमश्रेणीकी अपेक्षा प्रत्येक बन्धस्थानमें २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। विचार केवल क्षपकश्रेणिकी अपेक्षा करना है। सो इस सम्बन्धमें ऐसा नियम है कि संज्वलन क्रोधकी प्रथम स्थिति एक आवलिप्रमाण शेष रहने पर बन्ध, उदय और उदीरणा इन तीनोंकी एक साथ व्युच्छित्ति हो जाती है और तदनन्तर तीन प्रकृतिक बन्ध होता है परन्तु उस समय संज्वलन क्रोधके एक आवलि प्रमाण प्रथम

---

(१) कर्मकाण्ड गाथा ६६३ में चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक ये दो उदयस्थान तथा २८, २४, २१, १३, १२, ११, ५ और ४ प्रकृतिक ये आठ सत्त्वस्थान बतलाये हैं। यथा—

'दुगमेगं च य सत्तं पुव्वं वा अत्थि पणगदुगं।'

इसका कारण बतलाते हुए गाथा ४८५ में लिखा है कि जो जीव स्त्रीवेद व नपुंसकवेदके उदयके साथ श्रेणि पर चढ़ता है उसके स्त्रीवेद या नपुंसकवेदके उदयके द्विचरम समयमें पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है। यही सबब है कि कर्मकाण्डमें चार प्रकृति बन्धस्थानके समय १३ और १२ प्रकृतिक ये दो सत्त्वस्थान और बतलाये हैं।

एक साथ क्षय करता है। किन्तु इसके भी स्त्रीवेदकी क्षपणाके समय पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है। इस प्रकार चूँकि स्त्रीवेद और नपुंसक वेदके उदयसे क्षपकश्रेणि पर चढ़े हुए जीवके या तो स्त्रीवेदकी क्षपणाके अन्तिम समयमें या स्त्रीवेद और नपुंसकवेदकी क्षपणाके अन्तिम समयमें पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है अतः इस जीवके चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें वेदके उदयके विना एक प्रकृतिका उदय रहते हुए ग्यारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। तथा यह जीव पुरुषवेद और हास्यादि छहका क्षय एक साथ करता है अतः इसके पाँच प्रकृतिक सत्त्वस्थान न प्राप्त होकर चार प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। किन्तु जो जीव पुरुषवेदके उदयसे क्षपकश्रेणी पर चढ़ता है उसके छह नोकषायोंके क्षय होनेके समय ही पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति होती है, अतः इसके चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें ग्यारह प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं प्राप्त होता किन्तु पाँच प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। इसके यह सत्त्वस्थान दो समय कम दो आवलि

(१) कषायप्राभृतकी चूर्णिमें पाँच प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकारका काल एक समय कम दो आवलिप्रमाण बतलाया है। यथा—

'पंचण्हं विहत्तिओ केवचिरं कालादो ? जहण्णुक्कस्सेण दो आवलियाओ दूसमयूणाओ।'

इसकी टीका जयधवलामें लिखा है कि क्रोधसंज्वलन और पुरुषवेदके उदयसे क्षपकश्रेणि पर चढ़े हुए जीवके सवेद भागके द्विचरम समयमें छह नोकषायोंके साथ पुरुषवेदके प्राचीन सत्कर्मका नाश होकर सवेद भागके अन्तिम समयमें पुरुषवेदके एक समय कम दो आवलि प्रमाण नवक समयप्रबद्ध पाये जाते हैं, इसलिये पाँच प्रकृतिक सत्त्वस्थानका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकारका काल एक समय कम दो आवलि प्रमाण प्राप्त होता है।

काल तक रहकर तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त कालतक चार प्रकृतिक सत्त्वस्थान प्राप्त होता है। अतः चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें २८, २४, २१, ११, ५ और ४ ये छह सत्त्वस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ।

अब तीन, दो और एक प्रकृतिक बन्धस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें पाँच पाँच सत्त्वस्थान होते हैं इसका स्पष्टीकरण करते हैं—एक बात तो सर्वत्र सुनिश्चित है कि उपशमश्रेणीकी अपेक्षा प्रत्येक बन्धस्थानमें २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। विचार केवल क्षपकश्रेणीकी अपेक्षा करना है। सो इस सम्बन्धमें ऐसा नियम है कि संज्वलन क्रोधकी प्रथम स्थिति एक आवलिप्रमाण शेष रहने पर बन्ध, उदय और उदीरणा इन तीनोंकी एक साथ व्युच्छित्ति हो जाती है और तदनन्तर तीन प्रकृतिक बन्ध होता है परन्तु उस समय संज्वलन क्रोधके एक आवलि प्रमाण प्रथम

---

(१) कर्मकाण्ड गाथा ६६३ में चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक ये दो उदयस्थान तथा २८, २४, २१, १३, १२, ११, ५ और ४ प्रकृतिक ये आठ सत्त्वस्थान बतलाये हैं। यथा—

'दुगमेगं च य सत्तं पुव्वं वा अत्थि पणगुणं।'

इसका कारण बतलाते हुए गाथा ४८४ में लिखा है कि जो जीव स्त्रीवेद व नपुंसकवेदके उदयके साथ श्रेणि पर चढ़ता है उसके स्त्रीवेद या नपुंसकवेदके उदयके द्विचरम समयमें पुरुषवेदकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है। यही सबब है कि कर्मकाण्डमें चार प्रकृति बन्धस्थानके समय १३ और १२ प्रकृतिक ये दो सत्त्वस्थान और बतलाये हैं।

लिप्रमाण शेष रहने पर बन्ध, उदय और उदीरणाकी एकसाथ व्युच्छित्ति हो जाती है और उसके बाद एक प्रकृतिक बन्ध होता है परन्तु उस समय संज्वलन मायाके एक आवलिप्रमाण प्रथम स्थिति गत दलिकको और दो समय कम दो आवलिप्रमाण समय प्रबद्धको छोड़कर शेष सबका क्षय हो जाता है। यद्यपि यह शेष सत्कर्म भी दो समय कम दो आवलिप्रमाण कालके द्वारा क्षयको प्राप्त होगा किन्तु जब तक इसका क्षय नहीं हुआ है तब तक एक प्रकृतिक बन्धस्थान में दो प्रकृतिक सत्त्व पाया जाता है। पश्चात् इसका क्षय हो जाने पर एक प्रकृतिक बन्धस्थान में एक संज्वलन लोभका सत्त्व रहता है। इस प्रकार एक प्रकृतिक बन्धस्थानमें २८, २४, २१, २ और १ ये पाँच सत्त्व स्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ।

अब बन्धके अभाव में चार सत्त्वस्थान होते हैं इसका खुलासा करते हैं। बात यह है कि जो उपशमश्रेणि पर चढ़ कर सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानको प्राप्त होता है उसके मोहनीयका बन्ध तो नहीं होता किन्तु उसके २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान सम्भव हैं। तथा जो क्षपकश्रेणी पर आरोहण करके सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थानको प्राप्त होता है उसके एक सूक्ष्म लोभका ही सत्त्व पाया जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि बन्धके अभाव में २८, २४ २१ और १ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं।

मोहनीय कर्मके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके भंगोंका ज्ञापक कोष्टक—

सूचना—जिन आचार्यों का मत है कि चार प्रकृतिक बन्धस्थानमें दो और एक प्रकृतिक उदयस्थान होता है, उनके मतसे १२ उदयपद और २४ पदवृन्द बढ़कर उनकी संख्या क्रमः ९९५ और ६९७१ प्राप्त होती है।

अब इस सब कथन का उपसंहार करके नाम कर्मके कहने की प्रतिज्ञा करते हैं—

> दसनवपन्नरसाइं बंधोदयसन्तपयडिठाणाइं।
> भणियाइँ मोहणिज्जे इत्तो नामं परं वोच्छं ॥ २३ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके बन्ध, उदय और सत्त्वस्थान क्रमसे दस नौ और पन्द्रह कहे। अब आगे नामकर्म का कथन करते हैं।

विशेषार्थ—इस उपसंहार गाथाका यह अभिप्राय है कि यहाँ तक मोहनीय कर्मके दस बन्धस्थान, नौ उदयस्थान और पन्द्रह सत्त्वस्थानोंका, उनके सम्भव भंगोंका और बन्ध, उदय तथा सत्त्वस्थानके संवेध भंगोंका कथन किया, अब नाम कर्मके सम्भव इन सब विशेषताओंका कथन करते हैं।

१०. नामकर्म

अब सबसे पहले नाम कर्मके बन्धस्थानोंका कथन करते हैं—

(१) 'दसणवपन्नरसाइं बंधोदयसन्तपयडिठाणाइं। भणियाइं मोहणिज्जे एत्तो णामं परं वोच्छं ॥'—गो० कर्म० गा० ५१८।

तेवीसं पणुवीसा छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा।
तीसेगतीसमेक्कं बंधट्ठाणाणि णामस्स ॥ २४ ॥

अर्थ—नाम कर्मके तेईस प्रकृतिक, पचीस प्रकृतिक, छब्बीस प्रकृतिक, अट्ठाईस प्रकृतिक, उनतीस प्रकृतिक, तीस प्रकृतिक, इकतीस प्रकृतिक और एक प्रकृतिक ये आठ बन्धस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें नाम कर्मके तेईस प्रकृतिक आदि आठ बन्धस्थान होते हैं यह बतलाया है। आगे इन्हींका विस्तारसे विचार किया जाता है-वैसे तो नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ तिरानवे हैं पर उनमेंसे एक साथ कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है, इसका विचार इन आठ बन्धस्थानोंमें किया है। उसमें भी कोई तिर्यंचगतिके, कोई मनुष्यगतिके, कोई देवगतिके और कोई नरक गतिके प्रायोग्य बन्धस्थान हैं। और इससे उनके अनेक अवान्तर भेद भी हो जाते हैं अतः आगे इन अवान्तर भेदोंके साथ ही विचार करते हैं—तिर्यंचगतिके योग्य बन्ध करनेवाले जीवके सामान्यसे २३, २५, २६, २९ और ३० ये पाँच बन्धस्थान होते हैं। उनमें भी एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके २३,

(१) 'णामस्स कम्मस्स अट्ठ ट्ठाणाणि एक्कतीसाए तीसाए एगूणतीसाए अट्ठवीसाए छव्वीसाए पणुवीसाए तेवीसाए एक्किस्से ट्ठाणं चेदि।' —जी० चू० ठा० सू० ६०। 'तेवीसा पणुवीसा छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा। तीसेगतीस एगो बंधट्ठाणाइ नामेऽट्ठ ॥'—पञ्चसं० सप्तति० गा० ५५। तेवीसं पणवीसं छव्वीसं अट्ठवीसमुगतीसं। तीसेक्कतीसमेवं एक्को बंधो दुसेढिम्मि ॥' —गो० कर्म० गा० ५२१।

(२) 'तिरिक्खगदिणामाए पंच ट्ठाणाणि तीसाए एगूणतीसाए छव्वीसाए पणुवीसाए तेवीसाए ट्ठाणं चेदि।'—जी० चू० ट्ठा० सू० ६३।

२५ और २६ ये तीन बन्धस्थान होते हैं। इनमेंसे २३ प्रकृतिक बन्धस्थानमें तिर्यचगति, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुण्डसंस्थान, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघातनाम, स्थावरनाम, सूक्ष्म और बादर इनमेंसे कोई एक, अपर्याप्तक नाम, प्रत्येक और साधारण इनमेंसे कोई एक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण इन तेईस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। अतः इन तेईस प्रकृतियोंके समुदायको एक तेईस प्रकृतिक बन्धस्थान कहते हैं। यह बन्धस्थान अपर्याप्त एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्यके होता है। यहाँ भंग चार प्राप्त होते हैं। यथा—यह ऊपर बतलाया ही है कि बादर और सूक्ष्ममेंसे किसी एकका तथा प्रत्येक और साधारणमेंसे किसी एकका बन्ध होता है। अब यदि किसीने एक बार बादरके साथ प्रत्येकका और दूसरी बार बादरके साथ साधारणका बन्ध किया। इसी प्रकार किसीने एक बार सूक्ष्मके साथ प्रत्येकका और दूसरी बार सूक्ष्मके साथ साधारणका बन्ध किया तो इस प्रकार तेईस प्रकृतिक बन्धस्थानमें चार भंग प्राप्त हो जाते हैं। पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें—तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर, तैजसशरीर, कार्मण शरीर, हुण्डसंस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, स्थावर, बादर और सूक्ष्ममेंसे कोई एक, पर्याप्तक, प्रत्येक और साधारणमेंसे कोई एक, स्थिर और अस्थिरमेंसे कोई एक, शुभ और अशुभमेंसे कोई एक, यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे कोई एक, दुर्भग, अनादेय और निर्माण इन पच्चीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। अतः इन पच्चीस प्रकृतियोंके समुदायको एक पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थान कहते हैं। यह बन्धस्थान प०

तेवीसं पणवीसा छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा।
तीसेगतीसमेगं बंधट्ठाणाणि णामस्स ॥ २४ ॥

अर्थ—नाम कर्मके तेईस प्रकृतिक, पचीस प्रकृतिक, छब्बीस प्रकृतिक, अट्ठाईस प्रकृतिक, उनतीस प्रकृतिक, तीस प्रकृतिक, इकतीस प्रकृतिक और एक प्रकृतिक ये आठ बन्धस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें नाम कर्मके तेईस प्रकृतिक आदि आठ बन्धस्थान होते हैं यह बतलाया है। आगे इन्हींका विस्तारसे विचार किया जाता है—वैसे तो नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ तिरानवे हैं पर उनमेंसे एक साथ कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है, इसका विचार इन आठ बन्धस्थानोंमें किया है। उसमें भी कोई तिर्यंचगतिके, कोई मनुष्यगतिके, कोई देवगतिके और कोई नरक गतिके प्रायोग्य बन्धस्थान हैं। और इससे उनके अनेक अवान्तर भेद भी हो जाते हैं अतः आगे इन अवान्तर भेदोंके साथ ही विचार करते हैं—तिर्यंचगतिके योग्य बन्ध करनेवाले जीवके सामान्यसे २३, २५, २६, २९ और ३० ये पाँच बन्धस्थान होते हैं उनमें भी एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले जीवके २३

(१) 'णामस्स कम्मस्स अट्ठ ट्ठाणाणि एकतीसाए तीसाए एगुण ।...ए अट्ठवीसाए छव्वीसाए पणुवीसाए तेवीसाए एक्किस्से ट्ठाणं चेदि'—जी० चू० ठा० सू० ६०। 'तेवीसा पणुवीसा छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा तीसेगतीस एगो बंधट्ठाणाइ नामेऽट्ठ ॥'—पञ्चसं० सप्तति० गा० ५५। तेवीसं पणवीसं छव्वीसं अट्ठवीसमुगतीसं। तीसेकतीसमेवं एक्को बंधो दुसेढिम्मि ॥'
—गो० कर्म० गा० ५२१

(२) 'तिरिक्खगदिणामाए पंच ट्ठाणाणि तीसाए एगूणतीसाए छव्वी... पणुवीसाए तेवीसाए ट्ठाणं चेदि।'—जी० चू० ट्ठा० सू० ६३।

एकेन्द्रियके योग्य पच्चीसका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच, मनुष्य और देवके होता है। यहाँ भङ्ग बीस प्राप्त होते हैं। यथा—जब कोई जीव बादर, पर्याप्त और प्रत्येकका बन्ध करता है तब उसके स्थिर और अस्थिरमेंसे किसी एकका, शुभ और अशुभमेंसे किसी एकका तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे किसी एकका बन्ध होनेके कारण आठ भंग प्राप्त होते हैं। तथा जब कोई जीव बादर, पर्याप्त और साधारणका बन्ध करता है तब उसके यशःकीर्तिका बन्ध न होकर केवल अयशःकीर्तिका ही बन्ध होता है। कहा भी है—

'णो सुहुमतिगेण जसं।'

अर्थात् 'सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्तक इनमेंसे किसी एकका भी बन्ध होते समय यशःकीर्तिका बन्ध नहीं होता।'

अतः यहाँ यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिके निमित्तसे तो भंग सम्भव नहीं। अब रहे स्थिर-अस्थिर और शुभ-अशुभ ये दो युगल सो इनका विकल्पसे बन्ध सम्भव है। अर्थात् स्थिरके साथ भी एकबार शुभका और एकबार अशुभका तथा इसी प्रकार अस्थिरके साथ भी एकबार शुभका और एक बार अशुभका बन्ध सम्भव है, अतः यहाँ कुल चार भंग हुए। इसी प्रकार जब कोई जीव सूक्ष्म और पर्याप्तकका बन्ध करता है तब उसके यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति इनमेंसे तो एक अयशःकीर्तिका ही बन्ध होता है, किन्तु प्रत्येक और साधारणमेंसे किसी एकका, स्थिर और अस्थिरमेंसे किसी एकका तथा शुभ और अशुभमेंसे किसी एकका बन्ध होनेके कारण आठ भंग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार पचीस प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भंग बीस होते हैं। तथा छब्बीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें—तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, [illegible]जाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुण्ड-

संस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, स्थावर, आतप और उद्योतमेंसे कोई एक, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक स्थिर और अस्थिरमेंसे कोई एक, शुभ और अशुभमेंसे कोई एक, दुर्भग, अनादेय, यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे कोई एक तथा निर्माण इन छब्बीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है, अतः इन छब्बीस प्रकृतियोंके समुदायको एक छब्बीस प्रकृतिक बन्धस्थान कहते हैं। यह बन्धस्थान पर्याप्तक और बादर एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका आतप और उद्योतमेंसे किसी एक प्रकृतिके साथ बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच, मनुष्य और देवके होता है। यहाँ भंग सोलह होते हैं। जो आतप और उद्योतमेंसे किसी एकका, स्थिर और अस्थिरमेंसे किसी एकका, शुभ और अशुभमें से किसी एकका तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे किसी एकका बन्ध होनेके कारण प्राप्त होते हैं। आतप और उद्योतके साथ सूक्ष्म और साधारणका बन्ध नहीं होता, अतः यहाँ सूक्ष्म और साधारणके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले भंग नहीं कहे। इस प्रकार एकेन्द्रिय प्रायोग्य २३, २५ और २६ इन तीन बन्धस्थानोंके कुल भंग ४+२०+१६=४० होते हैं। कहा भी है—

'चत्तारि वीस सोलस भंगा एगिंदियाण चत्ताला।'

अर्थात् एकेन्द्रिय सम्बन्धी २३ प्रकृतिक बन्धस्थानके चार, २५ प्रकृतिक बन्धस्थानके बीस और २६ प्रकृतिक बन्धस्थानके सोलह इस प्रकार कुल चालीस भंग होते हैं।'

द्वीन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाँधनेवाले जीवके २५, २९ और ३० ये तीन बन्धस्थान होते हैं। इनमेंसे पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें—तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, द्वीन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुंडसंस्थान, सेवार्त संहनन, औदारिक अंगोपांग, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात,

त्रस, बादर, अपर्याप्तक, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण इन पचीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। अतः इनका समुदाय रूप एक पचीस प्रकृतिक बन्धस्थान कहलाता है। इस स्थानको अपर्याप्तक द्वीन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाँधनेवाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच बाँधते हैं। यहाँ अपर्याप्तक प्रकृतिके साथ केवल अशुभ प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है शुभ प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता, अतः एक ही भंग होता है। इन पचीस प्रकृतियोंमेंसे अपर्याप्तको घटाकर पराघात, उच्छ्वास, अप्रशस्तविहायोगति, पर्याप्तक और दुःस्वर इन पाँच प्रकृतियोंके मिला देनेपर उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। इसका कथन इस प्रकार करना चाहिये—तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, औदारिक आंगोपांग, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुण्डसंस्थान, सेवार्तसंहनन, वर्णादि चार, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, अप्रशस्तविहायोगति, त्रस, वादर, पर्याप्तक, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिरमेंसे कोई एक, शुभ और अशुभमेंसे कोई एक, दुःस्वर, दुर्भग, अनादेय, यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे कोई एक तथा निर्माण इस प्रकार उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें ये उनतीस प्रकृतियाँ होती हैं, अतः इनका समुदाय रूप एक उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान कहलाता है। यह बन्धस्थान पर्याप्तक द्वीन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाँधनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। यहाँ पर स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ और यशःकीर्ति–अयशःकीर्ति इन तीन युगलोंमेंसे प्रत्येक प्रकृतिका विकल्पसे बन्ध होता है, अतः आठ भंग प्राप्त होते हैं। तथा इन उनतीस प्रकृतियोंमें उद्योत प्रकृतिके मिला देनेपर तीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। इस स्थानको भी पर्याप्त दो इन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाँधनेवाला मिथ्यादृष्टि ही

बाँधता है। यहाँ भी वे ही आठ भंग होते हैं। इस प्रकार कुल भंग सत्रह होते हैं। तीनेन्द्रिय और चौइन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बाँधनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवके भी पूर्वोक्त प्रकारसे तीन तीन बन्धस्थान होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि तीनेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंमें तीनइन्द्रिय जाति और चौइन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंमें चौइन्द्रियजाति कहनी चाहिये। भंग भी प्रत्येकके सत्रह सत्रह होते हैं। इस प्रकार कुल भंग इक्यावन होते हैं। कहा भी है—

'एगट्ठ अट्ठ विगलिंदियाण इगवएण तिएहं पि।'

अर्थात् 'विकलत्रयमेंसे प्रत्येकके योग्य बँधनेवाले, २५, २९ और ३० प्रकृतिक बन्धस्थानोंके क्रमशः एक, आठ और आठ भंग होते हैं। तथा तीनोंके मिलाकर इक्यावन भंग होते हैं।'

तिर्यंचगति पंचेन्द्रियके योग्य प्रकृतियों का बन्ध करनेवाले जीव के २५, २९ और ३० ये तीन बन्धस्थान होते हैं। इनमें से पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थान तो वही है जो द्वीन्द्रियके योग्य पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थान बतला आये हैं। किन्तु वहाँ द्वीन्द्रिय जाति कही है सो उसके स्थान में पंचेन्द्रिय जाति कहनी चाहिये। यहाँ एक भंग होता है। उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान में तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी पंचेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर, औदारिक आंगोपांग, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, छह संस्थानोंमें से कोई एक संस्थान, छह संहननोंमेंसे कोई एक संहनन, वर्णादिक चार, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति मेंसे कोई एक, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिरमें से कोई एक, शुभ और अशुभमेंसे कोई एक, सुभग और दुर्भगमें से कोई एक, सुस्वर और दुःस्वरमेंसे कोई एक, आदेय और

अनादेयमेंसे कोई एक, यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे कोई एक तथा निर्माण इन उनतीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है, अतः इनका समुदाय रूप एक उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान कहलाता है। यह बन्धस्थान पर्याप्त तिर्यंच पंचेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको बांधनेवाले चारों गतिके मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। यदि इस बन्धस्थानका बन्धक सास्वादनसम्यग्दृष्टि होता है तो उसके प्रारम्भके पांच संहननोंमेंसे किसी एक संहननका और प्रारम्भके पांच संस्थानोंमें से किसी एक संस्थानका बन्ध होता है, क्योंकि हुंडसंस्थान और सेवार्त संहननको सास्वादनसम्यग्दृष्टि नहीं बांधता है ऐसा नियम है। यथा—

'हुंडं असंपत्तं व सासणो ण बंधइ।' —

अर्थात् 'सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव हुंडसंस्थान और असंप्राप्त संहननका बन्ध नहीं करता।'

इस उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें सामान्यसे छह संहननोंमें से किसी एक संहननका, छह संस्थानोंमेंसे किसी एक संस्थानका प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगतिमेंसे किसी एक विहायोगतिका, स्थिर और अस्थिरमेंसे किसी एकका, शुभ और अशुभमेंसे किसी एकका, सुभग और दुर्भगमेंसे किसी एकका, सुस्वर और दुःस्वरमें से किसी एकका, आदेय और अनादेयमेंसे किसी एकका तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे किसी एकका बन्ध होता है अतः इन सब संख्याओंको परस्पर गुणित कर देने पर ४६०८ भंग प्राप्त होते हैं। यथा–६×६×२×२×२×२×२×२×२ =४६०८। जैसा कि पहले लिख आये हैं कि इस स्थानका बन्धक सास्वादन सम्यग्दृष्टि भी होता है किन्तु इसके पांच संहनन और संस्थानका ही बन्ध होता है, इसलिये इसके ५×५×२×२×२×२×२×२=३२०० भंग प्राप्त होते हैं। किन्तु इनका

न्तर्भाव पूर्वोक्त भंगोंमें ही हो जाता है, इसलिये इन्हें अलगसे हीं गिनाया है। इस बन्धस्थानमें एक उद्योत प्रकृतिके मिला देने र तीस प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। जिस प्रकार उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें मिथ्यादृष्टि और सास्वादन सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा वशेषता बतला आये हैं उसी प्रकार यहाँ भी वही विशेषता समझना चाहिये। अतः यहाँ भी सामान्यसे ४६०८ भंग होते हैं। हा भी है—

'गुणतीसे तीसे वि य भङ्गा अट्ठाहिया छयालसया।
पंचिंदियतिरिजोगे पणवीसे बंधि भङ्गिक्को॥'

अर्थात् 'पंचेन्द्रिय तिर्यंचके योग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें ४६०८, तीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें ४६०८ और पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक भंग होता है।'

इस प्रकार पंचेन्द्रिय तिर्यंचके योग्य तीन बन्धस्थानों के कुल भंग ४६०८+४६०८+१=९२१७ होते हैं इनमें एकेन्द्रियके योग्य बन्धस्थानों के ४० द्वीन्द्रियके योग्य बन्धस्थानोंके १७, त्रीन्द्रिय के योग्य बन्धस्थानोंके १७ और चौइन्द्रियके योग्य बन्धस्थानोंके १७ भंग मिलाने पर तिर्यंचगति सम्बन्धी बन्धस्थानोंके कुल भङ्ग ९२१७+४०+५१=९३०८ होते हैं।

मनुष्यगतिके योग्य प्रकृतियों को बांधनेवाले जीवके २५, २९ और ३० ये तीन बन्धस्थान होते हैं। इनमेंसे पच्चीस प्रकृतिक बन्धस्थान वही है जो अपर्याप्त द्वीन्द्रियके योग्य बन्ध करनेवाले जीवके कह आये हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि यहां मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और पंचेन्द्रिय जाति ये तीन प्रकृतियां कहनी चाहिये। उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान तीन प्रकारका है।

(१) '[illegible] [illegible]।—[illegible] ८४।

शरीर, कार्मण शरीर, हुण्डसंस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण इन अट्ठाईस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। अतः इनका समुदायरूप एक बन्धस्थान है। यह बन्धस्थान मिथ्यादृष्टिके ही होता है। यहां सब अशुभ प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है अतः यहां एक ही भंग है।

इन तेईस आदि उपर्युक्त बन्धस्थानोंके अतिरिक्त एक बन्धस्थान और है जो देवगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्धविच्छेद हो जाने पर अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानोंमें होता है। इसमें केवल यशःकीर्तिका ही बन्ध होता है।

अब किस बन्धस्थानमें कुल कितने भंग प्राप्त होते हैं इसका विचार करते हैं—

चउ पणवीसा सोलस नव बाणउईसया य अडयाला।
एयालुत्तर छायालसया एक्केक बंधविही ॥ २५ ॥

अर्थ—तेईस आदि बन्धस्थानों में क्रम से चार, पच्चीस, सोलह, नौ, नौ हजार दो सौ अड़तालीस, चार हजार छह सौ इकतालीस, एक और एक भंग होते हैं ॥२५॥

विशेषार्थ—यद्यपि पहले तेईस आदि बन्धस्थानोंका विवेचन करते समय भंगोंका भी उल्लेख किया है पर उससे प्रत्येक बन्धस्थानके समुच्चयरूप भंगोंका बोध नहीं होता, अतः प्रत्येक बन्धस्थानके समुच्चयरूप भंगोंका बोध करानेके लिये यह गाथा आई है। यद्यपि सामान्यसे तो गाथामें ही बतला दिया है कि

किस वन्धस्थान में कितने भंग होते हैं पर वे किस प्रकार होते हैं इस वातका ज्ञान उतने मात्रसे नहीं होता, अतः आगे इसी वातका विस्तारसे विचार करते हैं—तेईस प्रकृतिक वन्धस्थानमें चार भंग होते हैं, क्योंकि तेईस प्रकृतिक वन्धस्थान अपर्याप्त एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंको वाँधनेवाले जीवके ही होता है अन्यके नहीं और इसके पहले चार भंग वतला आये हैं, अतः तेईस प्रकृतिक वन्धस्थानमें वे ही चार भंग जानना चाहिये। पच्चीस प्रकृतिक वन्धस्थानमें कुल पच्चीस भंग होते हैं, क्योंकि एकेन्द्रियके योग्य पच्चीस प्रकृतियोंका वन्ध करनेवाले जीवके बीस भंग होते हैं। तथा अपर्याप्त दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यगतिके योग्य पच्चीस प्रकृतियोंका वन्ध करनेवाले जीवके एक एक भंग होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त बीस भंगोंमें इन पाँच भङ्गोंके मिलाने पर पच्चोस प्रकृतिक वन्धस्थानके कुल पच्चीस भङ्ग होते हैं। छब्बीस प्रकृतिक वन्धस्थानमें कुल सोलह भङ्ग होते हैं, क्योंकि यह एकेन्द्रियके योग्य प्रकृतियोंका वन्ध करनेवाले जीवके ही होता है और एकेन्द्रिय प्रायोग्य छब्बीस प्रकृतिक वन्धस्थानमें पहले सोलह भङ्ग वतला आये हैं, अतः छब्बीस प्रकृतिक वन्धस्थानमें वे ही सोलह भङ्ग जानना चाहिये। अट्ठाईस प्रकृतिक वन्धस्थानमें कुल नौ भङ्ग होते हैं, क्योंकि ।ति के योग्य प्रकृतियोंका वन्ध करनेवाले जीव के २८ प्रकृतिक ।नके आठ भङ्ग होते हैं और नरक गतिके योग्य प्रकृतियों- करनेवाले जीवके २८ प्रकृतिक वन्धस्थानका एक भङ्ग

होता है। यह बन्धस्थान इनके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे नहीं प्राप्त होता अतः इसके कुल नौ भङ्ग हुए यह सिद्ध हुआ। उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानके ९२४८ भङ्ग होते हैं, क्योंकि तिर्यंच पंचेन्द्रिय के योग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानके ४६०८ भङ्ग होते हैं। मनुष्य गतिके योग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानके भी ४६०८ भङ्ग होते हैं। और दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौइन्द्रियके योग्य और तीर्थंकर सहित देवगतिके योग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थानके आठ आठ भङ्ग होते हैं। इस प्रकार उक्त भङ्गोंको मिलाने पर २९ प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भङ्ग ४६०८+४६०८+८+८+८+८=९२४८ होते हैं। ३० प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भङ्ग ४६४१ होते हैं। क्योंकि तिर्यंचगतिके योग्य तीसका बंध करनेवालेके ४६०८ भंग होते हैं। दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और मनुष्यगतिके योग्य तीसका बन्ध करनेवाले जीवोंके आठ आठ भंग होते हैं और आहारकके साथ देवगतिके योग्य तीसका बन्ध करनेवालेके एक भंग होता है। इस प्रकार इन भंगोंको मिलानेपर ३० प्रकृतिक बन्धस्थानके कुल भंग ४६०८+८+८+८+८+१=४६४१ होते हैं। तथा इकतीस प्रकृतिक बन्धस्थानका और एक प्रकृतिक बन्धस्थानका एक एक भंग होता है यह स्पष्ट ही है। इस प्रकार इन बन्धस्थानोंके कुल भङ्ग १३९४५ होते हैं। यथा—४+२५+१६+९+९२४८+४६४१+१+१=१३९४५। इस प्रकार नामकर्मके बन्धस्थान और उनके हुए भङ्गों का कथन समाप्त हुआ।

अब नामकर्मके उदयस्थानोंका कथन करते हैं—

वीसिगवीसा चउवीसगाइ एगाहिया उ इगतीसा।
उदयट्ठाणाणि भवे नव अट्ठ य हुंति नामस्स ॥२६॥

अर्थ—नाम कर्मके २०, २१ प्रकृतिक और २४ प्रकृतिक से लेकर ३१ प्रकृतिक तक ८ तथा नौ प्रकृतिक और आठ प्रकृतिक ये बारह उदयस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें नामकर्मके उदयस्थान गिनाये हैं। आगे उन्हीं का विवेचन करते हैं—एकेन्द्रिय जीवके २१, २४, २५, २६ और २७ ये पाँच उदयस्थान होते हैं। सो यहाँ तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, वर्णादि चार और निर्माण ये बारह प्रकृतियाँ उदयकी अपेक्षा ध्रुव हैं, क्योंकि तेरहवें गुणस्थान तक इनका उदय सबके होता है। अब इनमें तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, स्थावर, एकेन्द्रिय जाति, बादर सूक्ष्ममेंसे कोई एक, पर्याप्त और अपर्याप्तमेंसे कोई एक, दुर्भग अनादेय तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति मेंसे कोई एक इन नौ प्रकृतियोंके मिला देने पर इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान भवके अपान्तरालमें विद्यमान एकेन्द्रियके होता है। इस उदयस्थानमें पाँच भङ्ग होते हैं। जो इस प्रकार हैं—बादर अपर्याप्तक, बादर पर्याप्तक, सूक्ष्म अपर्याप्तक और सूक्ष्म पर्याप्तक। सो ये चारों भङ्ग अयशःकीर्तिके साथ कहना चाहिये।

(१) 'अडनववीसिगवीसा चउवीसेगहिय जाव इगतीसा। चउगइएसुं बारस उदयट्ठाणाइं नामस्स ॥' पञ्च० सप्त० गा० ७२। 'वीसं इगिचउवीसं तत्तो इगितीसओ त्ति एयधियं। उदयट्ठाणा एवं णव अट्ठ य होंति णामस्स ॥' —गो० कर्म० गा० ५९२।

इसी प्रकार तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय जीवोंमेंसे प्रत्येकके छह छह उदयस्थान और उनके भंग घटित कर लेने चाहिये। किन्तु सर्वत्र दोइन्द्रिय जातिके स्थानमें तेइन्द्रियोंके तेइन्द्रिय जातिका और चौइन्द्रियोंके चौइन्द्रिय जातिका उल्लेख करना चाहिये। इस प्रकार सब विकलेन्द्रियोंके ६६ भंग होते हैं। कहा भी है—

'तिग तिग दुग चउ छ चउ विगलाण छसट्ठि होइ तिण्हं पि।'

अर्थात् 'दोइन्द्रिय आदिमेंसे प्रत्येकके २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक उदयस्थानोंके क्रमशः ३, ३, २, ४, ६ और ४ भंग होते हैं। तथा तीनोंके मिलाकर कुल २२×३=६६ भङ्ग होते हैं।'

तिर्यंच पंचेन्द्रियोंके २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ ये छह उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे २१ प्रकृतिक उदयस्थानमें तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्तमेंसे कोई एक, सुभग और दुर्भगमेंसे कोई एक, आदेय और अनादेयमें से कोई एक, यशःकीति और अयशःकीर्तिमेंसे कोई एक इन नौ प्रकृतियोंको पूर्वोक्त बारह ध्रुवोदय प्रकृतियोंमें मिला देने पर कुल २१ प्रकृतियोंका उदय होता है। यह उदयस्थान अपान्तरालमें विद्यमान तिर्यंच पंचेन्द्रियके होता है। इसके नौ भंग हैं, क्योंकि पर्याप्तक नाम कर्मके उदयमें सुभग और दुर्भगमेंसे किसी एकका, आदेय और अनादेयमेंसे किसी एकका तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिमेंसे किसी एकका उदय होनेसे २×२×२=८ भंग प्राप्त हुए। तथा अपर्याप्तक नाम कर्मके [illegible] दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति इन तीन अशुभ प्रकृ[illegible] ही उदय होनेसे एक भंग प्राप्त हुआ। इस प्रकार २१ [illegible]तिक उदयस्थानमें कुल नौ भंग होते हैं।

किन्हीं आचार्योंका मत है कि सुभगके साथ आदेयका और दुर्भगके साथ अनादेयका ही उदय होता है, अतः इस मतके अनुसार पर्याप्तक नाम कर्मके उदयमें इन दोनों युगलोंको यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति इन दो प्रकृतियोंसे गुणित कर देने पर चार भंग हुए और अपर्याप्तका एक इस प्रकार २१ प्रकृतिक उदयस्थानमें कुल पांच भंग होते हैं। इसी प्रकार मतान्तरसे आगेके उदयस्थानोंमें भी भंगोंकी विषमता समझ लेना चाहिये।

तदनन्तर औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, छह संस्थानोंमेंसे कोई एक संस्थान, छह संहननोंमेंसे कोई एक संहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियोंके मिला देने पर और तिर्यंचगत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर शरीरस्थ तिर्यंच पंचेन्द्रियके २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके भंग २८९ होते हैं, क्योंकि पर्याप्तकके छह संस्थान, छह संहनन और सुभग आदि तीन युगलोंकी संख्याके परस्पर गुणित करने पर ६×६×२×२×२=२८८ भंग प्राप्त होते हैं। तथा अपर्याप्तकके हुण्डसंस्थान, सेवार्तसंहनन, दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्तिका ही उदय होता है, अतः एक यह भंग हुआ। इस प्रकार २६ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल २८९ भंग प्राप्त हो जाते हैं। शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके इस छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थानमें पराघात और प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगतिमेंसे कोई एक इस प्रकार इन दो प्रकृतियोंके मिलाने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके भंग ५७६ होते हैं, क्योंकि पर्याप्तके जो २८८ भंग बतला आये हैं उन्हें विहायोगतिद्विकसे गुणित करने पर ५७६ प्राप्त होते हैं। तदनन्तर प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवकी अपेक्षा इस २८ प्रकृतिक उदयस्थानमें उच्छ्वासके मिला देने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके भी पहलेके समान ५७६ भंग होते हैं।

अथवा, शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वासका उदय नहीं होता इसलिये उसके स्थानमें उद्योतके मिला देने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके भी ५७६ भंग होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग ११५२ होते हैं। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके सुस्वर और दुःस्वरमेंसे किसी एकके मिला देने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके ११५२ भंग होते हैं, क्योंकि जो पहले २९ प्रकृतिक स्थानके उच्छ्वास की अपेक्षा ५७६ भंग बतला आये हैं उन्हें स्वरद्विकसे गुणित करने पर ११५२ प्राप्त होते हैं। अथवा प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके जो २९ प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमें उद्योत के मिला देने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके पहलेके समान ५७६ भंग होते हैं। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदस्थानके कुल भंग १७२८ प्राप्त होते हैं। तथा स्वरसहित ३० प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योतके मिला देने पर ३१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके कुल भंग ११५२ होते हैं, क्योंकि स्वर प्रकृति सहित ३० प्रकृतिक उदयस्थानके जो ११५२ भंग कहे हैं वे ही यहां प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्राकृत तिर्यंचपंचेन्द्रियके छह उदयस्थान और उनके कुल भंग ९ + २८९ + ५७६ + ११५२ + १७२८ + ११५२ = ४९०६ होते हैं।

वैक्रियशरीरको करनेवाले इन्हीं तिर्यंचपंचेन्द्रियोंके २५, २८, २९ और ३० ये पांच उदयस्थान होते हैं। पहले ...चपंचेन्द्रियके इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं उसमें ..., वैक्रिय आंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, उपघात इन पाँच प्रकृतियोंके मिला देने पर तथा तिर्यंच-...काल लेने पर पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान होता ... और दुर्भगमेंसे किसी एकका, आदेय और

अनादेयमेंसे किसी एकका तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति मेंसे किसी एकका उदय होनेके कारण २×२×२=८ भंग प्राप्त होते हैं। तदनन्तर शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पराघात और प्रशस्त विहायोगतिके मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पहलेके समान ८ भंग प्राप्त होते हैं। तदनन्तर प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वास के मिला देने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पहलेके समान आठ भंग होते हैं। अथवा शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके यदि उद्योत का उदय हो तो भी २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी आठ भंग होते हैं। इस प्रकार २८ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग १६ हुए। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतियोंमें सुस्वरके मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी आठ भंग होते हैं। अथवा प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतियोंमें उद्योतके मिलाने पर भी २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके भी आठ भंग होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग १६ हुए। तदनन्तर सुस्वर सहित २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिलाने पर तीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके भी आठ भंग होते हैं। इस प्रकार वैक्रियशरीरको करनेवाले पचेन्द्रिय तिर्यंचके कुल उदयस्थान पाँच और उनके कुल भंग ८+८+१६+१६+८=५६ होते हैं। इन भंगोंको पहलेके ४९०६ भंगोंमें मिलाने पर सब तिर्यंचोंके कुल उदयस्थानोंके ४९६२ भंग होते हैं।

सामान्य मनुष्योंके २१, २६, २८, २९ और ३० ये पाँच उदयस्थान होते हैं। तिर्यंच पचेन्द्रियोंके इन उदयस्थानोंका जिस प्रकार कथन कर आये हैं उसी प्रकार यहाँ मनुष्योंके भी करना

चाहिये। किन्तु मनुष्योंके तिर्यंचगति और तिर्यंचगत्यानुपूर्वीके स्थानमें मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वीका कथन करना चाहिये। तथा २९ और ३० प्रकृतिक उदयस्थान उद्योत रहित कहना चाहिये, क्योंकि वैक्रिय और आहारक संयतोंको छोड़कर शेष मनुष्योंके उद्योतका उदय नहीं होता है। इससे तिर्यंचोंके २९ प्रकृतिक उदयस्थानके जो ११५२ भंग कहे उनके स्थानमें मनुष्योंके कुल ५७६ ही भंग प्राप्त होंगे। इसी प्रकार तिर्यंचोंके ३० प्रकृतिक उदयस्थानके जो १७२८ भंग कहे, उनके स्थानमें मनुष्योंके कुल ११५२ ही भङ्ग प्राप्त होंगे। इस प्रकार प्राकृत मनुष्योंके पूर्वोक्त पाँच उदयस्थानोंके कुल भंग ९ + २८९ + ५७६ + ५७६ + ११५२ = २६०२ होते हैं।

तथा वैक्रिय शरीरको करनेवाले मनुष्योंके २५, २७, २८, २९

(१) गोम्मटसार कर्मकाण्ड में वैक्रिय शरीर व वैक्रिय आंगोपांगका उदय देव और नारकियोंके ही बतलाया है मनुष्यों और तिर्यंचोंके नहीं। इसलिये वहाँ वैक्रिय शरीरकी अपेक्षासे मनुष्योंके २५ आदि उदय स्थान और उनके भंगोंका निर्देश नहीं किया है। इसी कारणसे वहाँ वायुकायिक और पंचेन्द्रिय तिर्यंच इन जीवोंके भी वैक्रिय शरीरकी अपेक्षा उदयस्थानों और उनके भंगोंका निर्देश नहीं किया है। धवला आदि अन्य ग्रन्थोंसे भी इसकी पुष्टि होती है। इस सप्ततिका प्रकरणमें यद्यपि एकेन्द्रिय आदि जीवोंके उदयप्रायोग्य नामकर्मकी बन्ध प्रकृतियोंका नामनिर्देश नहीं किया है तथापि आचार्य मलयगिरिकी टीकासे ऐसा ज्ञात होता है कि वहाँ देवगति और नरक गतिकी उदयप्रायोग्य प्रकृतियोंमें ही वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अंगोपांगका ग्रहण किया गया है। इससे यद्यपि ऐसा ज्ञात होता है कि तिर्यंच और मनुष्योंके वैक्रिय शरीर वैक्रिय आंगोपांगका उदय नहीं होना चाहिये। तथापि कर्म प्रकृतिके उदीरणा प्रकरणकी गाथा ८ से इस बातका समर्थन होता है कि यथासम्भव तिर्यंच और मनुष्योंके भी इन दो प्रकृतियोंका उदय व उदीरणा होती है।

और ३० ये पाँच उदयस्थान होते हैं। पहले बारह ध्रुवोदय प्रकृतियाँ बतला आये हैं उनमें मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय आंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, उपघात, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक, सुभग और दुर्भग इनमेंसे कोई एक, आदेय और अनादेय इनमेंसे कोई एक तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति इनमेंसे कोई एक इन तेरह प्रकृतियोंके मिला देने पर २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ सुभग और दुर्भगका, आदेय और अनादेयका तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिका विकल्पसे उदय होता है अतः आठ भंग हुए। इतनी विशेषता है कि वैक्रिय शरीर को करनेवाले देशविरत और संयतोंके प्रशस्त प्रकृतियोंका ही उदय होता है। इस प्रकार २५ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल आठ भंग हुए। तदनन्तर शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पराघात और प्रशस्त विहायोगति इन दो प्रकृतियों के मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पहलेके समान आठ भंग होते हैं। तदनन्तर प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वासके मिलानेपर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी आठ भंग होते हैं। अथवा उत्तर वैक्रिय शरीरको करनेवाले संयतोंके शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त होने पर पूर्वोक्त २७ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिलाने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक ही भंग है, क्योंकि ऐसे संयतोंके दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति इन अशुभ प्रकृतियोंका उदय नहीं होता। इस प्रकार २८ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल भंग नौ हुए। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतिक उदयस्थान में सुस्वरके मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पहलेके समान आठ भंग होते हैं। अथवा, संयतोंके स्वरके स्थानमें उद्योतके मिलाने

पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका पूर्ववत् एक ही भंग हुआ। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल ९ भंग हुए। तथा सुस्वर सहित २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें संयतोंके उद्योतके मिलाने पर ३० प्रकृतिक उदस्थान होता है। इसका पूर्ववत् एक ही भंग हुआ। इस प्रकार वैक्रिय शरीरको करनेवाले मनुष्यों के कुल उदयस्थान पाँच और उनके कुल भंग ८+८+९+९+१=३५ होते हैं।

आहारक संयतोंके २५, २७, २८, २९ और ३० ये पाँच उदयस्थान होते हैं। पहले मनुष्यगतिके उदय योग्य २१ प्रकृतियाँ कह आये हैं। उनमें आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, उपघात और प्रत्येक इन पाँच प्रकृतियोंके मिलाने पर तथा मनुष्य गत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। किन्तु इतनी विशेषता है कि यहाँ सब प्रशस्त प्रकृतियोंका ही उदय होता है, क्योंकि आहारक

---

(१) गोम्मटसार कर्मकाण्डकी गाथा २६७ से ज्ञात होता है कि पाँचवें गुणस्थान तकके जीवों के ही उद्योत प्रकृतिका उदय होता है। तथा उसकी गाथा २८६ से यह भी ज्ञात होता है कि उद्योतका उदय तिर्यंचगतिमें ही होता है। इसीसे कर्मकाण्डमें आहारक संयतोंके २५, २७, २८, और २६ प्रकृतिक चार उदयस्थान बतलाये हैं। इनमें से २५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान तो सप्ततिका प्रकरणके अनुसार ही जानना चाहिये। अब रहे शेष २८ और २६ ये दो उदयस्थान सो इनमें से २८ प्रकृतिक उदयस्थान उच्छ्वास प्रकृतिके उदयसे और २६ प्रकृतिक उदयस्थान सुस्वर प्रकृतिके उदयसे होता है ऐसा यहाँ जानना चाहिये। अर्थात् २७ प्रकृतिक उदयस्थानमें उच्छ्वास प्रकृतिके मिलाने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है और इस २८ प्रकृतिक उदयस्थानमें सुस्वर प्रकृतिके मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदस्थान होता है।

संयतोंके दुर्भग, दुःस्वर और अयशःकीर्ति का उदय नहीं होता। अतः यहाँ एक ही भंग होगा। तदनन्तर शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पराघात और प्रशस्त विहायोगति इन दो प्रकृतियोंके मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी एक ही भंग है। तदनन्तर प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वासके मिलाने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक भंग होता है। अथवा शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके पूर्वोक्त २७ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिला देनेपर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक भंग है। इस प्रकार २८ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल दो भङ्ग हुए। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतिक उदयस्थानमें सुस्वरके मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक भङ्ग है। अथवा, प्राणापान पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके स्वरके स्थानमें उद्योतके मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक भंग है। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थानके कुल दो भंग हुए। तदनन्तर भाषा पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके स्वरसहित २९ प्रकृतिक उदयस्थानमें उद्योतके मिलाने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक भङ्ग है। इस प्रकार आहारक संयतोंके कुल उदयस्थान ५ और उनके कुल भङ्ग १+१+२+२+१ = ७ होते हैं।

केवली जीवोंके २०, २१, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ८ और ९ ये दस उदयस्थान होते हैं। पूर्वोक्त १२ ध्रुवोदय प्रकृतियों में मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, सुभग, आदेय और यशःकीर्ति इन आठ प्रकृतियोंके मिला देनेपर २० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक भङ्ग है। यह उदयस्थान समुद्घातगत अतीर्थकेवलीके कार्मण काययोगके समय

३१ प्रकृतियोंमेंसे एक प्रकृतिके निकाल देने पर तीर्थकेवलीके ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। तथा जब उच्छ्वासका निरोध करते हैं तब उच्छ्वास प्रकृतिका उदय नहीं रहता. अतः उच्छ्वासके घटा देने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। किन्तु अतीर्थकरकेवलीके तीर्थंकर प्रकृतिका उदय नहीं होता, अतः पूर्वोक्त ३० और २९ प्रकृतिक उदयस्थानोंमेंसे तीर्थंकर प्रकृतिके घटा देने पर अतीर्थकर केवलीके वचनयोगका निरोध होने पर २९ प्रकृतिक और उच्छ्वासका निरोध होने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अतीर्थंकर केवलीके इन दोनों उदयस्थानोंमें छह संस्थान और दो विहायोगति इनकी अपेक्षा १२, १२ भङ्ग प्राप्त होते हैं, किन्तु वे सामान्य मनुष्योंके उदयस्थानोंमें भी संभव हैं, अतः उनकी अलगसे गिनती नहीं की। तथा नौ प्रकृतिक उदयस्थानमें मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और तीर्थंकर इन नौ प्रकृतियोंका उदय होता है। अतः इनका समुदाय एक नौ प्रकृतिक उदयस्थान कहलाता है। यह स्थान तीर्थंकर केवलीके होता है, जो अयोगिकेवली गुणस्थानमें प्राप्त होता है। इस उदयस्थानमेंसे तीर्थंकर प्रकृतिके घटा देने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह भी अयोगिकेवली गुणस्थानमें अतीर्थंकर केवलीके होता है। यहाँ २०, २१, २७, २९, ३०, ३१, ९ और ८ इन उदयस्थानोंका एक-एक विशेष भङ्ग प्राप्त होता है इसलिये ८ भङ्ग हुए। इनमेंसे २० प्रकृतिक और ८ प्रकृतिक इन दो उदयस्थानोंके दो भङ्ग अतीर्थंकर केवलीके होते हैं। तथा शेष छह भङ्ग तीर्थंकर केवलीके होते हैं। इस प्रकार सब मनुष्योंके उदयस्थान सम्बन्धी कुल भङ्ग २६०२ + ३५ + ७ + ८ = २६५२ होते हैं।

देवोंके २१, २५, २७, २८, २९ और ३० ये छह उदयस्थान

प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी एक ही भंग है। तदनन्तर भाषापर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवके दुःस्वरके मिला देने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक ही भंग है। इस प्रकार नारकियोंके पाँच उदयस्थानोंके कुल भंग पाँच होते हैं।

ये अबतक एकेन्द्रिय आदि जीवों के जितने उदयस्थान बतला आये हैं उनके कुल भंग ४२+६६+४९६२+२६५२+६४+५ =७७९१ होते हैं।

अब किस उदयस्थानमें कितने भंग होते हैं इसका विचार करते हैं—

> एग वियालेक्कारस तेत्तीसा छस्सयाणि तेत्तीसा।
> बारससत्तरससयाणहिगाणि बिपंचसीईहिं ॥२७॥
> अउणत्तीसेक्कारससयाहिगा सतरसपंचसट्ठीहिं।
> इक्केक्कगं च वीसादट्ठुदयंतेसु उदयविही ॥ २८॥

अर्थ—वीससे लेकर आठ पर्यन्त १२ उदयस्थानोंमें क्रमसे १, ४२, ११, ३३, ६००, ३३, १२०२, १७८५, २९१७, ११६५, १ और १ भंग होते हैं।

---

(१) गोम्मटसार कर्मकाण्डमें इन २० प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंके भंग क्रमशः १, ६०, २७, १९, ६२०, १२, ११७५, १७६०, २९२१, ११६१, १ और १ बतलाये हैं। यथा—

वीसादीणं भंगा इगिदालपदेसु संभवा कमसो। एक्कं सट्ठी चेव य सत्तावीसं च उगुवीसं ॥ ६०३ ॥ वीसुत्तरछच्चसया बारस पण्णत्तरीहिं संजुत्ता। एक्कारससयसंखा सत्तरससयाहिया सट्ठी ॥ ६०४ ॥ ऊणतीस-सयाहियएक्कावीसा तदो वि एकट्ठी। एक्कारससयसहिया एक्केक्क विसरिगा भंगा ॥ ६०५ ॥

इन भंगोंका कुल जोड़ ७७५८ होता है।

विशेषार्थ—पहले नामकर्मके २०, २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ९ और ८ इस प्रकार १२ उदयस्थान बतला आये हैं। तथा इनमेंसे किस गतिमें कितने उदयस्थान और उनके कितने भंग होते हैं यह भी बतला आये हैं। अब यह बतलाते हैं कि उनमेंसे किस उदयस्थानके कितने भंग होते हैं—

बीस प्रकृतिक उदयस्थानका एक भंग है जो अतीर्थंकर केवली के होता है। २१ प्रकृतिक उदयस्थानके एकेन्द्रियोंकी अपेक्षा ५, विकलेन्द्रियोंकी अपेक्षा ९, तिर्यंचपंचेन्द्रियोंकी अपेक्षा ९, मनुष्यों की अपेक्षा ९, तीर्थंकरकी अपेक्षा १, देवोंकी अपेक्षा ८ और नारकियोंकी अपेक्षा १ भंग बतला आये हैं जिनका कुल जोड़ ४२ होता है, अतः २१ प्रकृतिक उदयस्थान के ४२ भंग कहे। २४ प्रकृतिक उदयस्थानके एकेन्द्रियोंकी अपेक्षा ही ११ भंग प्राप्त होते हैं, क्योंकि यह उदयस्थान अन्य जीवोंके नहीं होता, अतः इसके ११ भंग कहे। २५ प्रकृतिक उदयस्थानके एकेन्द्रियोंकी अपेक्षा सात, वैक्रिय शरीरको करनेवाले तिर्यंच पंचेन्द्रियोंकी अपेक्षा ८, वैक्रिय शरीरको करनेवाले मनुष्योंकी अपेक्षा ८, आहारक संयतोंकी अपेक्षा १, देवोंकी अपेक्षा ८ और नारकियोंकी अपेक्षा १ भंग बतला आये हैं जिनका जोड़ ३३ होता है, अतः २५ प्रकृतिक उदयस्थानके ३३ भंग कहे। २६ प्रकृतिक उदयस्थानके एकेन्द्रियोंकी अपेक्षा १३, विकलेन्द्रियोंकी अपेक्षा ९, प्राकृत तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा २८९ और प्राकृत मनुष्योंकी अपेक्षा २८९ भंग बतला आये हैं जिनका जोड़ ६०० होता है, अतः इस उदयस्थानके कुल भंग ६०० कहे। २७ प्रकृतिक उदयस्थानके एकेन्द्रियोंकी अपेक्षा ६, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियोंकी अपेक्षा ८, वैक्रिय मनुष्योंकी अपेक्षा ८, आहारक संयतोंकी अपेक्षा १, केवलियोंकी अपेक्षा १, देवोंकी अपेक्षा ८ और नारकियोंकी अपेक्षा १ भंग बतला आये हैं

जिनका जोड़ ३३ होता है, अतः इस उदयस्थानके कुल ३३ भंग कहे। २८ प्रकृतिक उदयस्थानके विकलेन्द्रियोंकी अपेक्षा ६, प्राकृत तिर्यंच पंचेन्द्रियोंकी अपेक्षा ५७६, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियोंकी अपेक्षा १६, प्राकृत मनुष्योंकी अपेक्षा ५७६, वैक्रिय मनुष्योंकी अपेक्षा ९, आहारकोंकी अपेक्षा २, देवोंकी अपेक्षा १६ और नारकियोंकी अपेक्षा १ भंग बतला आये हैं जिनका जोड़ १२०२ होता है, अतः इस उदयस्थानके कुल भंग १२०२ कहे। २९ प्रकृतिक उदयस्थानके विकलेन्द्रियोंकी अपेक्षा १२, तिर्यंच पंचेन्द्रियोंकी अपेक्षा ११५२, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियोंकी अपेक्षा १६, मनुष्योंकी अपेक्षा ५७६, वैक्रिय मनुष्योंकी अपेक्षा ९, आहारक संयतोंकी अपेक्षा २, तीर्थंकरकी अपेक्षा १, देवोंकी अपेक्षा १६ और नारकियोंकी अपेक्षा १ भंग बतला आये हैं जिनका जोड़ १७८५ होता है, अतः इस उदयस्थानके कुल भंग १७८५ कहे। ३० प्रकृतिक उदयस्थानके विकलेन्द्रियोंकी अपेक्षा १८, तिर्यंच पंचेन्द्रियोंकी अपेक्षा १७२८, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियोंकी अपेक्षा ८, मनुष्योंकी अपेक्षा ११५२, वैक्रिय मनुष्योंकी अपेक्षा १, आहारक संयतोंकी अपेक्षा १, केवलियोंकी अपेक्षा १ और देवों की अपेक्षा ८ भंग बतला आये हैं जिनका जोड़ २९१७ होता है, अतः इस स्थानके कुल भंग २९१७ कहे। ३१ प्रकृतिक उदयस्थानके विकलेन्द्रियोंकी अपेक्षा १२, तिर्यंच पंचेन्द्रियोंकी अपेक्षा ११५२ और तीर्थंकरकी अपेक्षा १ भंग बतला आये हैं जिनका जोड़ ११६५ होता है, अतः इस उदयस्थानके ११६५ भंग कहे। ९ प्रकृतिक उदयस्थानका तीर्थंकरकी अपेक्षा १ भंग बतला आये हैं, अतः इसका १ भंग कहा। तथा ८ प्रकृतिक उदयस्थानका अतीर्थंकरकी अपेक्षा १ भंग बतला आये हैं अतः इसका भी १ भंग कहा। इस प्रकार सब उदयस्थानोंके कुल भंग १+४२+११+३३+६००+

३३ + १२०२ + १७८५ + २९१७ + ११६५ + १ + १ = ७७९१ होते हैं।

नाम कर्म के उदयस्थानों की विशेषता का ज्ञापक कोष्टक—

[२२]

उदय स्थान	भंग	स्वामी
२०	१	सामान्य केवली
२१	४२	एके० ५, विक० ९, तिर्य० ९, मनु० ९. ती० १ देव० ८. नारकी १
२४	११	एकेन्द्रिय
२५	३२	एके० ७, वैक्रिय ति० ८, वै० म० ८, आहा १ देव ८, नारकी १
२६	६००	एके० १३. विक० ९, ति० २८९, म० २८९
२७	३२	एके० ६, वै० ति० ८, वै० म० ८, आहा० १ तीर्थ० १, देव ८. नारकी १
२८	१२०२	विक० ६, ति० ५७६, वै० ति० १६, मनु० ५७६ वै० म० ९ आ० २, देव १६, ना० १
२९	१७८५	वि० १२, ति० ११५२, वै० ति० १६, म० ५७६ वै० म० ९, आ० २, देव १६, ना० १, ती० १
३०	२९१७	वि० १८, ति० १७२८, वै० ति० ८, म० ११५२ वै० म० १, आ० १, ती० १, देव ८
३१	११६५	वि० १२, ति० ११५२, तीर्थ० १
९	१	तीर्थंकर
८	१	केवली

अब नामकर्म के सत्तास्थानोंका कथन करते हैं—

तिदुनउई उगुनउई अट्ठच्छलसी असीइ उगुसीई।
अट्ठयछप्पणत्तरि नव अट्ठ य नामसंताणि ॥२९॥

अर्थ——नाम कर्म के ९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७८, ७६, ७५, ९ और ८ प्रकृतिक बारह सत्तास्थान होते हैं।

विशेषार्थ——इस गाथामें यह बतलाया है कि नामकर्मके कितने सत्त्वस्थान हैं और उनमेंसे किस सत्त्वस्थानमें कितनी प्रकृतियों का सत्त्व होता है। किन्तु प्रकृतियोंका नाम निर्देश नहीं किया है अत: आगे इसीका विचार किया जाता है—नाम कर्मकी सब उत्तर प्रकृतियाँ ९३ हैं अत: ९३ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें सब प्रकृतियोंका सत्त्व स्वीकार किया गया है। इनमेंसे तीर्थंकर प्रकृ

---

(१) गोम्मटसार कर्मकाण्डमें ९३, ९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७, १० और ९ प्रकृतिक १३ तेरह सत्त्वस्थान बतलाये हैं। यथा—

तिदुइगिणउदी णउदी अडचउदोअहियसीदि सीदी य। ऊणासीदट्ठत्तरि सत्तत्तरि दस य णव सत्ता ॥ ६०९ ॥

यहाँ ९३ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमें सब प्रकृतियोंका सत्त्व स्वीकार किया गया है। तीर्थंकर प्रकृतिके कम कर देने पर ९२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। आहारक शरीर और आहारक आंगोपांगके कम कर देने पर ९१ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तीर्थंकर, आहारक शरीर और आहारक आंगोपांगके कम कर देने पर ९० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इनमेंसे देवद्विककी उद्वलना होने पर ८८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इनमेंसे नारक चतुष्ककी उद्वलना होने पर ८४ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इनमेंसे मनुष्यद्विककी उद्वलना होने पर ८२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। क्षपक अनिवृत्ति करणके ९३ प्रकृतियोंमेंसे नरकद्विक आदि १३ प्रकृतियोंका क्षय हो

तिके कम कर देने पर ९२ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तथा ९३ प्रकृतिक सत्त्वस्थानमेंसे आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग, आहारक संघात और आहारक बन्धन इन चार प्रकृतियोंके कम कर देने पर ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इसमें से तीर्थंकर प्रकृतिके कम कर देने पर ८८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इन ८८ प्रकृतियोंमेंसे नरकगति और नरकगत्यानुपूर्वी की या देवगति और देवगत्यानुपूर्वीकी उद्वलना हो जाने पर ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। अथवा, नरकगतिके योग्य प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थानवाले जीवके नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रिय आंगोपांग, वैक्रिय संघात और वैक्रिय बन्धन इन छह प्रकृतियोंका बन्ध होने पर ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इनमेंसे नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, और वैक्रियचतुष्क इन छह प्रकृतियों की उद्वलना हो जाने पर ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। या देवगति, देवगत्यानुपूर्वी और

घटाने पर ८० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। ९२ मेंसे उक्त १३ प्रकृतियोंके घटा देने पर ७९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इन्हीं १३ प्रकृतियोंको ९१ मेंसे घटाने पर ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। ९० मेंसे इन्हीं १३ प्रकृतियोंके घटाने पर ७७ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। तीर्थंकर अयोगिकेवलीके १० प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है और सामान्य अयोगि-केवलीके ९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है।

चतुष्ककी सत्ता प्राप्त की, अतः उसके २८ प्रकृतियोंके बन्धके समय ८६ प्रकृतियोंकी सत्ता होती है। और यदि वह जीव संक्लेश परिणामवाला हुआ तो उसके नरकगतिके योग्य २८ प्रकृतियोंका बन्ध होता है और इस प्रकार नरकद्विक और वैक्रिय चतुष्ककी सत्ता प्राप्त हो जानेके कारण भी ८६ प्रकृतिक सत्त्वस्थान होता है। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें २८ प्रकृतियोंका बन्ध होते समय ९२, ८९, ८८ और ८६ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ। तथा इकतीस प्रकृतिक उदयस्थानमें ९२, ८८ और ८६ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। यहाँ ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं होता, क्योंकि जिसके २८ प्रकृतियोंका बन्ध और ३१ प्रकृतियोंका उदय है वह पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही होगा। किन्तु तिर्यंचों के तीर्थकर प्रकृतिकी सत्ता नहीं है, क्योंकि तीर्थकर प्रकृतिकी सत्तावाला मनुष्य तिर्यंचों में नहीं उत्पन्न होता। अतः यहां ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थानका निषेध किया है।

अब २९ और ३० प्रकृतिक बन्धस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें ९ उदयस्थान और ७ सत्त्वस्थान होते हैं इसका क्रमशः विचार करते हैं। २९ प्रकृतिक बन्धस्थानमें २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ ये नौ उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे २१ प्रकृतियोंका उदय तिर्यंच और मनुष्योंके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले पर्याप्त और अपर्याप्त एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच और मनुष्योंके तथा देव और नारकियोंके होता है। चौबीस प्रकृतियोंका उदय पर्याप्त और अपर्याप्त एकेन्द्रियोंके होता है। पच्चीस प्रकृतियोंका उदय पर्याप्त एकेन्द्रियोंके देव और नारकियोंके तथा वैक्रियशरीरको करनेवाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। २६ प्रकृतियोंका उदय पर्याप्तक एकेन्द्रियोंके तथा पर्याप्त और अपर्याप्त विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्योंके होता है। २७ प्रकृतियोंका उदय पर्याप्त
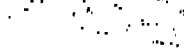
त्त्वस्थान होते हैं। इसका विचार जिस प्रकार २३ प्रकृतियोंका
न्ध करनेवाले जीवोंके कर आये हैं उसी प्रकार यहाँ भी कर
ना चाहिये। मनुष्यगतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले
केन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवोंके तथा तिर्यंच-
ति और मनुष्यगतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले
नुष्योंके अपने अपने योग्य उदयस्थानोंके रहते हुए ७८ को छोड़
कर वे ही चार सत्त्वस्थान होते हैं। तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य
तिके योग्य २९ प्रकृतियों का बन्ध करनेवाले देव और नारकियोंके
अपने अपने उदयस्थानोंमें ९२ और ८८ ये दो ही सत्तास्थान
होते हैं। किन्तु मनुष्यगतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करने
वाले मिथ्यादृष्टि नारकीके तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्ताके रहते हुए अपने
पांच उदयस्थानोंमें एक ८९ प्रकृतिक सत्त्वस्थान ही होता है, क्योंकि
जो तीर्थंकर प्रकृतिसहित हो वह यदि आहारक चतुष्क रहित होगा
तो ही उसका मिथ्यात्वमें जाना सम्भव है, क्योंकि तीर्थंकर और
आहारक चतुष्क इन दोनोंका एक साथ सत्त्व मिथ्यादृष्टि गुणस्थान
में नहीं पाया जाता ऐसा नियम है। अतः ९३ मेंसे आहारक चतु-
ष्कके निकाल देने पर उन नारकीके ८९ का ही सत्त्व प्राप्त होता है।

---

(१) 'उभसंतिओ न मिच्छो।'... 'तित्थाहारा जुगवं सव्वं तित्थं ण मिच्छगादितिए। तस्सत्तकम्मियाणं तग्गुणठाणं ण संभवदि।'—गो० क० गा० ३३३।

ये ऊपर जो उद्धरण दिये हैं इनमें यह बतलाया है कि मिथ्यादृष्टिके तीर्थंकर और आहारक चतुष्क इनका एक साथ सत्त्व नहीं पाया जाता। तथापि गोम्मटसार कर्मकाण्डके सत्त्वस्थान अधिकारकी गाथा ३६५ और ३६६ से इस बातका भी पता चलता है कि मिथ्यादृष्टिके भी तीर्थंकर और आहारक चतुष्ककी सत्ता एक साथ पाई जा सकती है, ऐसा भी एक मत रहा है।

उक्त विशेषताओंका ज्ञापक कोष्ठक

[२३]

गुण०	बन्ध स्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्ता स्थान
१ मि०	२३	४	२१	३२	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२४	११	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२५	३२	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२६	६००	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२७	३२	९२,८८,८६,८० ४
			२८	११५२	९२,८८,८६,८० ४
			२९	१७६४	९२,८८,८६,८० ४
			३०	२९०६	९२,८८,८६,८० ४
			३१	११६४	९२,८८,८६,८० ४
१	२५	२५	२१	४०	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२४	११	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२५	३१	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२६	६००	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२७	३०	९२,८८,८६,८० ४
			२८	११९८	९२,८८,८६,८० ४
			२९	१७८०	९२,८८,८६,८० ४
			३०	२९१४	९२,८८,८६,८० ४
			३१	११६४	९२,८८,८६,८० ४
१	२६	१६	२१	४०	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२४	११	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२५	३१	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२६	६००	९२,८८,८६,८०,७८ — ५
			२७	३०	९२,८८,८६,८० ४
			२८	११९८	९२,८८,८६,८० ४
			२९	१७८०	९२,८८,८६,८० ४
			३०	२९१४	९२,८८,८६,८० ४
			३१	११६४	९२,८८,८६,८० ४

विशेषार्थ—यह तो पहले ही बतला आये हैं कि ज्ञानावरण और अन्तरायकी सब उत्तर प्रकृतियां ध्रुवबन्धिनी, ध्रुवोदय और ध्रुवसत्ताक हैं। इन दोनों कर्मोंकी सब उत्तर प्रकृतियों का अपने अपने विच्छेदके अन्तिम समय तक बन्ध, उदय और सत्त्व निरन्तर होता रहता है। अतः प्रारम्भके तेरह जीवस्थानोंमें ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंके पाँच प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व इन तीन विकल्परूप एक भंग प्राप्त होता है क्योंकि इन जीवस्थानोंमें से किसी जीवस्थानमें इनके बन्ध उदय और सत्त्वका विच्छेद नहीं पाया जाता। तथा अन्तिम पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थानमें ज्ञानावरण और अन्तरायका बन्धविच्छेद पहले होता है तदनन्तर उदय और सत्त्व विच्छेद होता है। अतः यहाँ पाँच प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व इस प्रकार तीन विकल्परूप एक भंग होता है। तदनन्तर पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्त्व इस प्रकार दो विकल्परूप एक भंग होता है। किन्तु केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर इस जीवके भावमन तो रहता नहीं फिर भी द्रव्यमन पाया जाता है और इस अपेक्षासे उसे भी पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय कहते हैं। चूर्णिमें भी कहा है—

'मनकरणं केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो वुच्चंति।
मणोविन्नाणं पडुच्च ते सन्निणो न हवंति।'

अर्थात् 'मन नामका करण केवलीके भी है इसलिये वे संज्ञी कहे जाते हैं किन्तु वे मानसिक ज्ञानकी अपेक्षा संज्ञी नहीं होते।'

इस प्रकार सयोगी और अयोगी जिनके पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय सिद्ध हो जाने पर उनके तीन विकल्परूप और दो विकल्परूप भंग न प्राप्त होवें इस बातको ध्यानमें रखकर गाथामें बतलाया है कि केवल द्रव्यमनकी अपेक्षा जो जीव पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय

और साधारणमें से कोई एक इन चार प्रकृतियोंके मिलाने पर और तिर्यंचगत्यानुपूर्वी इस प्रकृतिके घटा लेने पर २४ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। जो उक्त दोनों जीवस्थानोंमें समानरूपसे सम्भव है। यहां सूक्ष्म अपर्याप्तक और बादर अपर्याप्तकमें से प्रत्येकके प्रत्येक और साधारणकी अपेक्षा दो दो भंग होते हैं। इस प्रकार दो उदयस्थानोंकी अपेक्षा दोनों जीवस्थानोंमें से प्रत्येक के तीन तीन भंग हुए। किन्तु विकलेन्द्रिय अपर्याप्तक, असंज्ञी अपर्याप्तक और संज्ञी अपर्याप्तक इन पांच जीवस्थानोंमें २१ और २६ प्रकृतिक दो उदयस्थान होते हैं। इनमें से अपर्याप्तक दो इन्द्रियके तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, वर्णादि चार, दो इन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, अपर्याप्तक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण यह २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। जो अपान्तराल गतिमें विद्यमान जीवके ही होता है अन्यके नहीं। यहां सभी पद अप्रशस्त हैं अतः एक भंग है। इसी प्रकार तीन इन्द्रिय आदि जीवस्थानोंमें भी यह २१ प्रकृतिक उदयस्थान और उसका १ भंग जानना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रत्येक जीवस्थान में दो इन्द्रिय जाति न कह कर तेइन्द्रिय जाति आदि अपनी अपनी जातिका उदय कहना चाहिए। तदनन्तर शरीरस्थ जीवके औदारिक शरीर, औदारिक आंगोपांग, हुण्डसंस्थान, सेवार्त संहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियोंके मिलाने पर और तिर्यंचगत्यानुपूर्वीके निकाल लेने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहां भी एक ही भंग है। इस प्रकार अपर्याप्तक दो इन्द्रिय आदि प्रत्येक जीवस्थानमें दो दो उदयस्थानोंकी अपेक्षा दो दो भंग होते हैं। केवल अपर्याप्त संज्ञी इसके अपवाद हैं। बात यह है कि अपर्याप्त संज्ञी यह जीवस्थान तिर्यंचगति और

इन चार प्रकृतियोंको मिलाओ और तिर्यंचगत्यानुपूर्वीको निकाल दो तो २४ प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। यह शरीरस्थ जीवके होता है। यहां प्रत्येक और साधारणके विकल्पसे दो भंग होते हैं। अनन्तर शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवकी अपेक्षा इसमें पराघातके मिला देने पर २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहां भी वे ही दो भंग होते हैं। अनन्तर प्राणापन पर्याप्तिसे पर्याप्त हुए जीवकी अपेक्षा इसमें उच्छ्वास प्रकृतिके मिला देने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहां भी पूर्वोक्त दो भंग होते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म पर्याप्तकके चार उदयस्थान और उनके कुल मिलाकर सात भंग होते हैं। तथा इस जीवस्थानमें ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक पांच सत्त्वस्थान होते हैं। तिर्यंचगतिमें तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्ता नहीं होती इसलिये यहां ९३ और ८९ ये दो सत्त्वस्थान तो सम्भव नहीं, अब शेष रहे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसम्बन्धी ९२, ८८, ८६, ८०, और ७८ ये पांच सत्त्वस्थान सो वे सब यहां सम्भव हैं। फिर भी जब साधारण प्रकृतिके उदयके साथ २५ और २६ प्रकृतिक उदयस्थान लिया जाता है तब इस भंगमें ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान सम्भव नहीं, क्योंकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको छोड़कर शेष सब जीव शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त होने पर मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वी का नियमसे बन्ध करते हैं। और २५ तथा २६ प्रकृतिक उदयस्थान शरीर पर्याप्तिसे पर्याप्त जीवके ही होते हैं। अतः साधारण सूक्ष्म पर्याप्त जीवके २५ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानके रहते हुए ७८ प्रकृतिक सत्त्वस्थान नहीं होता। किन्तु शेष चार सत्त्वस्थान होते हैं यह सिद्ध हुआ। हां जब प्रत्येक प्रकृतिके साथ २५ और २६ प्रकृतिक उदयस्थान लिया जाता है तब प्रत्येकमें अग्निकायिक और वायुकायिक जीव भी सम्मिलित

इसके यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति इन दोमें से किसी एकका विकल्प से उदय होता है इतनी और विशेषता है। अतः इस अपेक्षा से यहां २१ प्रकृतिक उदयस्थानके दो भंग हुए। तदनन्तर शरीरस्थ जीवकी अपेक्षा इसमें औदारिक शरीर, हुण्डसंस्थान, उपघात तथा प्रत्येक और साधारण इनमें से कोई एक ये चार प्रकृतियां मिला दो और तिर्यंचगत्यानुपूर्वी निकाल लो तो २४ प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। यहां पूर्वोक्त दो भंगोंको प्रत्येक और साधारण के विकल्प की अपेक्षा दो से गुणित कर देने पर चार भङ्ग होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि शरीरस्थ विक्रिया करनेवाले बादर वायुकायिक जीवोंके साधारण और यशःकीर्ति का उदय नहीं होता इसलिये वहां एक ही भंग होता है। तथा दूसरी विशेषता यह है कि ऐसे जीवोंके औदारिक शरीरका उदय न होकर वैक्रिय शरीर का उदय होता है अतः इनके औदारिक शरीरके स्थानमें वैक्रिय शरीर कहना चाहिये। इस प्रकार २४ प्रकृतिक उदयस्थानमें कुल पांच भंग हुए। तदनन्तर इसमें पराघात के मिलाने पर शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवके २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहां भी पहले के समान पांच भंग होते हैं। तदनन्तर इसमें उच्छ्वासके मिलाने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहां भी पहले के समान पांच भंग होते हैं। अब यदि शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवके आतप और उद्योत में से किसी एक प्रकृतिका उदय हो जाय तो भी २६ प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। किन्तु आतप का उदय साधारण के साथ नहीं होता है अतः इस पक्ष में २६ प्रकृतिक उदयस्थान के यशःकीर्ति और अयशःकीर्तिकी अपेक्षा दो भंग हुए। हां उद्योत का उदय साधारण और प्रत्येक इनमें से किसीके भी साथ होता है अतः इस पक्षमें साधारण और प्रत्येक तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति

तथा २४ प्रकृतिक उदयस्थान एकेन्द्रियोंके ही होता है अतः वह भी इसके नहीं बतलाया। इस प्रकार इन चार उदयस्थानों को छोड़ कर शेष २१, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ ये आठ उदयस्थान इसके होते हैं यह सिद्ध हुआ। अब इन उदयस्थानों के भंगों का विचार करने पर इनके कुल भंग ७६७१ प्राप्त होते हैं क्यों कि १२ उदयस्थानोंके कुल भंग ७७९१ हैं सो इनमेंसे १२० भंग कम हो जाते हैं, क्योंकि उन भंगोंका सम्बन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तसे नहीं हैं। कुल सत्त्वस्थान १२ हैं पर यहाँ ९ और ८ ये दो सत्त्वस्थान सम्भव नहीं, क्योंकि वे केवली के ही पाये जाते हैं। हाँ इनके अतिरिक्त ९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७८, ७६ और ७५ ये दस सत्त्वस्थान यहाँ पाये जाते हैं सो २१ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानोंके क्रमश ८ और २८८ भंगोंमेंसे तो प्रत्येक भंगमें ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ ये पाँच पाँच सत्त्वस्थान ही पाये जाते हैं।

इस प्रकार चौदह जीवस्थानोंमें कहां कितने वन्धादिस्थान और उनके भंग होते हैं इसका विचार किया। अब उनके परस्पर संवेधका विचार करते हैं—सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवोंके २३ प्रकृतिक वन्धस्थानमें २१ प्रकृतिक उदयके रहते हुए ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ ये पांच सत्त्वस्थान होते हैं। तथा इसी प्रकार २४ प्रकृतिक उदयस्थानमें भी पांच सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार दोनों उदयस्थानोंके कुल सत्त्वस्थान १० हुए। तथा इसी प्रकार २५, २६, २९ और ३० प्रकृतियोंका वन्ध करनेवाले उक्त जीवोंके दो दो उदयस्थानोंकी अपेक्षा दस दस सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार कुल सत्त्वस्थान पचास हुए। इसी प्रकार वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक आदि अन्य छह अपर्याप्तकोंके पचास पचास

सत्त्वस्थान जानने चाहिये। किन्तु सर्वत्र अपने अपने दो दो उदयस्थान कहने चाहिये।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तकके २३, २५, २६, २९ और ३० ये ही पांच बन्धस्थान होते हैं। और एक एक बन्धस्थानमें २१, २४, २५ और २६ ये चार उदयस्थान होते हैं। अतः पांचको चारसे गुणा करने पर २० हुए। तथा प्रत्येक उदयस्थानमें पांच पांच सत्त्वस्थान होते हैं अतः २० को ५ से गुणा करने पर १०० सत्त्वस्थान हुए।

बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकके भी पूर्वोक्त पांच बन्धस्थान होते हैं। और एक एक बन्धस्थानमें २१, २४, २५, २६ और २७ ये पांच पांच उदयस्थान होते हैं। अतः ५ को ५ से गुणा करने पर २५ हुए। इनमेंसे अन्तिम पांच उदयस्थानोंमें ७८ के बिना चार चार सत्त्वस्थान होते हैं जिनके कुल भंग २० हुए और शेष २० उदय स्थानों में पांच पांच सत्त्वस्थान होते हैं जिनके कुल भंग सौ हुए। इस प्रकार यहां कुल भंग १२० हुए।

दोइन्द्रिय पर्याप्तकके २३, २५, २६, २७ और ३० ये पाँच बन्धस्थान होते हैं और प्रत्येक बन्धस्थानमें २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ ये छह उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे २१ और २६ इन दो उदयस्थानोंमें पांच पांच सत्त्वस्थान होते हैं। तथा शेष चार उदयस्थानोंमें ७८ के बिना चार चार सत्त्वस्थान होते हैं। ये कुल मिला कर २६ सत्त्वस्थान हुए। इस प्रकार पांच बन्ध-

इस प्रकार कुल यहां ३० सत्त्वस्थान होते हैं। इसी प्रकार २६ प्रकृतिक बन्धस्थानमें भी ३० सत्त्वस्थान होते हैं। २८ प्रकृतिक बन्धस्थान में आठ उदयस्थान होते हैं। सो उनमेंसे २१, २५, २६, २७, २८, और २९ इन छह उदयस्थानोंमें ९२ और ८८ ये दो दो सत्त्वस्थान होते हैं। ३० प्रकृतिक उदयस्थानमें ९२, ८८, ८६ और ८० ये चार सत्त्वस्थान होते हैं। तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थानमें ९२, ८८ और ८६ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। इस प्रकार यहां कुल १६ सत्त्वस्थान होते हैं। २९ प्रकृतिक बन्धस्थान में ३० सत्त्वस्थान तो २५ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवालेके समान लेना। किन्तु इस बन्धस्थानमें कुछ और विशेषता है जिसे बतलाते हैं। बात यह है कि जब अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य देवगतिके योग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करता है तब उसके २१, २६, २८, २९ और ३० ये पांच उदयस्थान और प्रत्येक उदयस्थानमें ९३ और ८९ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं जिनका कुल जोड़ १० हुआ। इसी प्रकार विक्रिया करनेवाले संयत और संयतासंयत जीवके भी २९ प्रकृतिक बन्धस्थानके समय २५ और २७ ये दो उदयस्थान और प्रत्येक उदयस्थानमें ९३ और ८९ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। जिनका कुल जोड़ चार हुआ। अथवा आहारक संयतके भी इन दो उदयस्थानों में ९३ की सत्ता होती है और तीर्थंकर की सत्ता वाले नारकी मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा ८९ की सत्ता होती है। इस प्रकार इन १४ सत्त्वस्थानोंको पहलेके ३० सत्त्वस्थानोंमें मिला देने पर २९ प्रकृतिक बन्धस्थानमें कुल ४४ सत्त्वस्थान प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार ३० प्रकृतिक वन्धस्थानमें भी २५ प्रकृतिक वन्धस्थानके समान ३० सत्त्वस्थानोंका ग्रहण करना चाहिये। किन्तु यहाँ भी कुछ विशेषता है जिसे आगे वतलाते हैं। बात यह है कि तीर्थंकर प्रकृतिके साथ मनुष्यगतिके योग्य ३० प्रकृतियोंका वन्ध होते समय २१, २५, २७, २८, २६ और ३० ये छह उदयस्थान और प्रत्येक उदस्थानमें ६३ और ८६ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं जिनका कुल जोड़ १२ होता है। इन्हें पूर्वोक्त ३० भङ्गोंमें मिला देने पर ३० प्रकृतिक वन्धस्थानमें कुल सत्त्वस्थान ४२ होते हैं। तथा ३१ प्रकृतियोंके वन्धमें तीर्थंकर और आहारकद्विकका वन्ध अवश्य होता है. अतः यहाँ ६३ की ही सत्ता है। तथा एक प्रकृतिक वन्धके समय ८ सत्त्वस्थान होते हैं। सो इनमेंसे ६३, ६२, ८६ और ८८ ये चार सत्त्वस्थान उपशमश्रेणीमें होते हैं और ८०, ७६, ७६ और ७५ ये चार सत्त्वस्थान क्षपकश्रेणीमें होते हैं। तथा वन्धके अभावमें संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकके पूर्वोक्त आठ सत्त्वस्थान होते हैं। सो इनमेंसे प्रारम्भके ४ उपशान्तमोह गुणस्थानमें प्राप्त होते हैं और अन्तिम ४ क्षीणमोह गुणस्थानमें प्राप्त होते हैं। इस प्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकके सब मिलाकर २०८ सत्त्वस्थान होते हैं।

अब यदि द्रव्यमनके संयोगसे केवलीको भी संज्ञी मान लेते हैं तो उनके भी २६ सत्त्वस्थान प्राप्त होते हैं। यथा—केवलीके २०, २१, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ६ और ८ ये दस उदयस्थान होते हैं। सो इनमेंसे २० प्रकृतिक उदयस्थानमें ७६ और ७५ ये दो सत्त्वस्थान होते हैं। तथा २६ और २८ प्रकृतिक उदयस्थानोंमें

१४ जीवस्थानोंमें उदयस्थान और उनके भङ्गों का ज्ञापक कोष्ठक—

[२७]

सू० ए० अ०		सू० ए० प०		बा० ए० अ०		बा० ए० प०	
२१	१	२१	१	२१	१	२१	२
२४	२	२४	२	२४	२	२४	५
		२५	२			२५	५
		२६	२			२६	११
						२७	६
२	३	४	७	२	३	५	२९

बेइ० अ०		बेइ० प०		तेइ० अ०		तेइ० प०	
२१	१	२१	२	२१	१	२१	२
२६	१	२६	२	२६	१	२६	२
		२८	२			२८	२
		२९	४			२९	४
		३०	६			३०	६
		३१	४			३१	४
२	२	६	२०	२	२	६	२०

बं०स्था०	भं०	बं०स्था०	भं०
२३, २५	१, १	२३, २५, २६, २९, ३०, ३१	२, २, २, ४, ६, ४
२	२	६	२०

अ० पं० अ०		अ० पं० प०		सं० पं० अ०		सं० पं० प०	
२३, २५	२, २	२३, २५, २६, २९, ३०, ३१	२, २, २, ४, ६, ४	२३, २५	२, २	२१, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, २०, ९, ८	२५, २६, ५७६, २६, ११९९, १७७८, २८९८, ११५२, १, १, १, ५
२	४	६	२०	२	४	११	७६९१

१४ जीवस्थानोंमें नामकर्मके बन्धनादिस्थान और उनके भंगोंका ज्ञापक कोष्टक—

[२८]

जीवस्थान	बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
पृ. सू. अ.	२३, २५, २६, २९, ३०	१३९१७	२१ २४	३	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
सू. ए. प.	२३. २५, २६, २९, ३०	१३९१७	२१, २४, २५, २६	७	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
बा. ए. अ.	२३ २५, २६. २९, ३०	१३९१७	२१, २४	३	९२, ८८ ८६, ८०, ७८
बा. ए. प.	२३. २५, २६ २९, ३०	१३९१७	२१, २४, २५ २६, २७	२९	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
बेइं० अ०	२३. २५, २६ २९, ३०	१३९१७	२१, २६	२	९२, ८८, ८६, ८०. ७८
बेइं० प०	२३, २५, २६, २९, ३०	१३९१७	२१, २६, २८, २९ ३०, ३१	२०	९२. ८८. ८६, ८०. ७८
तेइं० अ०	२३, २५. २६ २९, ३०	१३९१७	२१, २६	२	९२. ८८, ८६, ८०, ७८
तेइं० प०	२३, २५, २६, २९, ३०	१३९१७	२१, २६, २८, २९, ३० ३१	२०	९२ ८८, ८६, ८०, ७८
चउरिं. अ.	२३. २५. २६, २९, ३०	१७१३९	२१, २६	२	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
चउरिं. प.	२३. २५. २६, २९. ३०	१३९१७	२१, २६, २८, २९, ३०, ३१	२०	९२. ८८, ८६. ८०, ७८
अ. पं. अ.	२३. २५, २६, २९, ३०	१३९१७	२१, २६	४	९२. ८८, ८६, ८०, ७८
अ. पं. प.	२३, २५, २६, २८, २९, ३०	१३९२६	२१, २६, २८, २९, ३०, ३१	४९०४	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
सं. पं. अ.	२३, २५, २६, २९, ३०	१३९१७	२१, २६	४	९२. ८८, ८६, ८०, ७८
सं. पं. प.	२३, २५, २६, २८, २९ ३०, ३१, १	१३९४५	२१, २५, २६, २७ २८, २९ ३०, ३१, २०, ९, ८	७६७९	९३. ९२. ८९, ८८ ८६ ८०, ७९, ७८ ७६, ७५, के, ९, ८

मिच्छासाणे बिइए नव चउ पण नव य संतंसा ॥३९॥
मिस्साइ नियट्टीओ छच्चउ पण नव य संतकम्मंसा।
चउबंध तिगे चउ पण नवंस दुसु जुयल छस्संता ॥४०॥
उवसंते चउ पण नव खीणे चउरुदय छच्च चउ संतं।

अर्थ—दर्शनावरण कर्मकी मिथ्यात्व और सास्वादनमें नौ प्रकृतियोंका बन्ध, चार या पांचका उदय और नौ की सत्ता होती है। मिश्र से लेकर अपूर्वकरणके पहले संख्यातवें भागतक छह का बन्ध, चार या पांचका उदय और नौकी सत्ता होती है। अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानोंमें चारका बन्ध, चार या पांच का उदय और नौकी सत्ता होती है। क्षपकके ९ औ १० इन दो गुणस्थानोंमें चारका बन्ध, चारका उदय और छहकी सत्ता होती है। उपशान्त मोह गुणस्थानमें चार या पांचका उदय और नौकी सत्ता होती है। तथा क्षीणमोह गुणस्थानमें चारका उदय तथा छह और चारकी सत्ता होती है॥

---

(१) 'मिच्छा सासयणेसुं नवबंधुवलक्खिया उ दो भंगा। मीसाओ य नियट्टी जा छब्बंधेण दो दो उ॥ चउबंधे नव संते दोण्णि अपुव्वाउ सुहुमरागो जा। अब्बंधे णव संते उवसंते हुंति दो भंगा॥ चउबंधे छस्संते बायरसुहुमाणमेगुक्खवयाणं। छसु चउसु य संतेसु दोण्णि अबंधंमि खीणस्स॥'—पञ्च० सप्त० गा० १०२–१०४। 'णव सासणो त्ति बंधो छच्चेव अपुव्वपढमभागो त्ति। चत्तारि होंति तत्तो सुहुमकसायस्स चरिमो त्ति। खीणो त्ति चारि उदया पंचसु णिद्दासु दोसु णिद्दासु। एक्के उदयं पत्ते खीणदुचरिमो त्ति पंचुदया॥ मिच्छादुवसंतो त्ति य अणियट्टी खवगपढमभागो त्ति। णव सत्ता खीणस्स दुचरिमो त्ति य छच्चदुवरिमे॥' गो० कर्म० गा० ४६०–४६२॥"

बन्ध पाया जाता है। इससे यह मतलब निकला कि मिथ्यात्वके समान सास्वादनमें भी किसी एक का बन्ध, किसी एक का उदय और दोनों का सत्त्व बन जाता है। इस हिसाबसे यहाँ चार भंग प्राप्त होते हैं। ये भंग वे ही हैं जिनका मिथ्यात्वमें क्रम नम्बर १, २, ३ और ४ में उल्लेख कर आये हैं। तीसरे से लेकर पाँचवें तक बन्ध एक उच्च गोत्र का ही होता है किन्तु उदय और सत्त्व दोनों का पाया जाता है इसलिए इन तीन गुणस्थानोंमें (१) उच्चका बन्ध, उच्चका उदय और नीच-उच्चका सत्त्व तथा (२) उच्च का बन्ध, नीच का उदय और नीच-उच्च का सत्त्व ये दो भंग पाये जाते हैं। कितने ही आचार्योंका यह भी मत है कि पांचवें गुणस्थान में उच्चका बन्ध, उच्च का उदय और उच्च-नीचका सत्त्व यही एक भंग होता है। इस विषयमें आगमका भी वचन है। यथा—

'सामन्नेणं वयजाईए उच्चागोयस्स उदओ होइ।'

अर्थात् 'सामान्य से संयत और संयतासंयत जातिवाले जीवों के उच्च गोत्रका उदय होता है।'

छठे से लेकर दसवें गुणस्थान तक ही उच्चगोत्र का बन्ध होता है, अतः इनमें उच्चका बन्ध, उच्चका उदय और उच्च नीचका सत्त्व यह एक भंग प्राप्त होता है। और ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें इन तीन गुणस्थानोंमें उच्चका उदय और उच्च-नीचका सत्त्व यह एक भंग प्राप्त होता है। इस प्रकार छठेसे लेकर तेरहवें तक प्रत्येक गुणस्थान में एक भंग होता है यह सिद्ध हुआ। तथा अयोगिकेवली गुणस्थानमें नीच गोत्रका सत्त्व उपान्त्य समय तक ही होता है, क्योंकि चौदहवें गुणस्थानमें यह उदयरूप प्रकृति न होनेसे उपान्त्य समय में ही इसका स्तिवुक संकमणके द्वारा उच्च

गोत्ररूपसे परिणमन हो जाता है अतः इस गुणस्थानके उपान्त्य समय तक उच्चका उदय और उच्च-नीचका सत्त्व यह एक भंग होता है। तथा अन्त समयमें उच्चका उदय और उच्चका सत्त्व यह एक भंग होता है। इस प्रकार गुणस्थानोंमें गोत्र कर्मके भंगोंका विचार किया।

अब आयुकर्म के भंगोंका विचार करते हैं। इस विषयमें अन्तर्भाष्य गाथा निम्न प्रकार है—

'अट्ठच्छाहिगवीसा सोलह वीसं च बार छदोसु।

दो चउसु तीसु एक्कं मिच्छाइसु आउगे भंगा॥'

अर्थात्—'मिथ्यात्वमें २८, सास्वादनमें २६, मिश्रमें १६, अविरत सम्यग्दृष्टिमें २०, देशविरतमें १२, प्रमत्त और अप्रत्तमें ६, अपूर्वादि चारमें २ और क्षीणमोह आदि तीनमें १ इस प्रकार मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें आयु कर्मके भंग होते हैं।'

नारकियोंके पांच, तिर्यंचोंके नौ, मनुष्योंके नौ और देवोंके पांच इस प्रकार आयुकर्मके २८ भंग पहले वतला आये हैं वे सब भंग मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें सम्भव हैं, अतः यहाँ मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें २८ भंग कहे। सास्वादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्य नरकायुका वन्ध नहीं करते, क्योंकि नरकायुका वन्ध मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होता है, अतः उपर्युक्त २८ भंगोंमें से (१) भुज्यमान तिर्यंचायु, वध्यमान नरकायु तथा तिर्यंच-नरकायुका सत्त्व (२) भुज्यमान मनुष्यायु, वध्यमान नरकायु तथा मनुष्य-नरकायुका सत्त्व ये दो भंग कम

होकर सास्वादन गुणस्थानमें २६ भंग प्राप्त होते हैं। मिश्र गुणस्थान में परभव सम्बन्धी किसी भी आयुका बन्ध नहीं होता अतः यहाँ २८ भंगोंमें से बन्धकालमें प्राप्त होने वाले नारकियोंके दो तिर्यंचोंके चार, मनुष्योंके चार और देवोंके दो इस प्रकार १२ भंग कम होकर १६ भंग प्राप्त होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें तिर्यंच और मनुष्योंमें से परलोकके नरक, तिर्यंच और मनुष्यायुका बन्ध नहीं होता तथा देव और नारकियोंमें परलोकके तिर्यंचायुका बन्ध नहीं होता, अतः २८ भंगोंमें से ये ८ भंग कम होकर इस गुणस्थानमें २० भंग प्राप्त होते हैं। देशविरति तिर्यंच और मनुष्योंके ही होती है और यदि ये परभव सम्बन्धी आयुका बन्ध करते हैं तो देवायुका ही बन्ध करते हैं अन्य आयुका नहीं, क्योंकि देशविरतमें देवायुको छोड़कर अन्य आयुका बन्ध नहीं होता। अतः इनके आयुबन्ध के पहले एक एक ही भंग होता है और आयुबन्धके कालमें भी एक एक ही भंग होता है इस प्रकार तिर्यंच और मनुष्य दोनोंके मिलाकर चार भंग तो ये हुए। तथा उपरत बन्ध की अपेक्षा तिर्यंचों के भी चार भंग प्राप्त होते हैं और मनुष्योंके भी चार भंग प्राप्त होते हैं, क्योंकि चारों गति सम्बन्धी आयुका बन्ध करनेके पश्चात् तिर्यंच और मनुष्योंके देशविरत गुणस्थानके प्राप्त होनेमें किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है। इस प्रकार आठ भंग ये हुए। कुल मिलाकर देशविरत गुणस्थानमें १२ भंग हुए। प्रमत्त और अप्रमत्त संयत मनुष्य ही होते हैं और ये देवायुको ही बाँधते हैं अतः इनके आयुबन्धके पहले एक भंग

१४ गुणस्थानोंमें उदय कर्मोंके भंगोंका ज्ञापक कोष्टक—

[२९]

गुणस्थान	ज्ञानावरण	दर्शनाव०	वेदनीय	आयु	गोत्र	अन्तराय
मिथ्या०	१	२	४	२८	५	१
सास्वा०	१	२	४	२६	४	१
मिश्र०	१	२	४	१६	२	१
अविरत०	१	२	४	२०	२	१
देशवि०	१	२	४	१२	२	१
प्रमत्त०	१	२	४	६	१	१
अप्रमत्त०	१	२	२	६	१	१
अपूर्वक०	१	४	२	२	१	१
अनिवृ०	१	३	२	२	१	१
सूक्ष्म०	१	३	२	२	१	१
उपशान्त०	१	२	२	२	१	१
क्षीणमो०	१	२	२	१	१	१
सयोगिके०	०	०	२	१	१	०
अयोगिके०	०	०	४	१	२	०

अब पूर्व सूचनानुसार गुणस्थानोंमें मोहनीयके भंगोंका विचार करते हैं उसमें भी पहले बन्धस्थानोंके भंगोंको बतलाते हैं-

गुणठाणगेसु अट्ठसु एक्केक्कं मोहबंधठाणेसु।
पंचानियट्टिठाणे बंधोवरमो परं तत्तो॥ ४२॥

अर्थ--मिथ्यात्वादि आठ गुणस्थानोंमें मोहनीयके बन्धस्थानोंमेंसे एक एक बन्धस्थान होता है। तथा अनिवृत्तिकरणमें पांच बन्धस्थान होते हैं। तदनन्तर अगले गुणस्थानोंमें बन्धका अभाव है।

विशेषार्थ---मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें एक २२ प्रकृतिक बन्ध स्थान होता है। सास्वादनमें एक २१ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें एक १७ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। देशविरतमें एक १३ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। प्रमतसंयत, अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरणमें एक ९ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यहाँ इतना विशेष है कि अरति और शोक की बन्धव्युच्छित्ति प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें ही हो जाती है, अतः अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरणके नौ प्रकृतिक बन्धस्थानमें एक एक ही भंग प्राप्त होता है। पहले जो ९ प्रकृतिक बन्धस्थानमें २ भंग कह आये हैं वे प्रमत्तसंयत गुणस्थानकी अपेक्षा कहे हैं। अनिवृत्तिकरणमें ५, ४, ३, २ और १ ये पांच बन्धस्थान होते हैं। तथा आगेके गुणस्थानोंमें मोहनीयका बन्ध नहीं होता, अतः इसका निषेध किया है।

अब गुणस्थानोंमें मोहनीयके उदयस्थानोंका कथन करते हैं—

सत्ताइ दस उ मिच्छे सासायण मीसए नवुक्कोसा।
छाई नव उ अविरए देसे पंचाइ अट्ठेव॥ ४३॥

विरए खओवसमिए चउराई सत्त छच्चपुव्वंमि ।
अनियट्टिबायरे पुण इक्को व दुवे व उदयंसा ॥ ४४ ॥
एगं सुहुमसरागो वेएइ अवेयगा भवे सेसा ।
भंगाणं च पमाणं पुव्वुद्दिट्ठेण नायव्वं ॥ ४५ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वमें ७ से लेकर १० तक ४, सासादन और मिश्रमें ७ से लेकर ९ तक ३, अविरत सम्यक्त्वमें ६ से लेकर ९ तक ४, देशविरतमें ५ से लेकर ८ तक ४, प्रमत्त और अप्रमत्तविरतमें ४ से लेकर ७ तक ४, अपूर्वकरणमें ४ से लेकर ६ तक ३ और अनिवृत्तिबादर गुणस्थानमें दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक इस प्रकार दो उदयस्थान होते हैं। तथा सूक्ष्मसंपराय जीव एक प्रकृतिका वेदन करता है और शेष गुणस्थानवाले जीव अवेदक होते हैं। इनके भंगों का प्रमाण पहले कहे अनुसार जानना चाहिये।

विशेषार्थ—मोहनीयकी कुल उत्तरप्रकृतियां २८ हैं। उनमेंसे एक साथ अधिक से अधिक १० प्रकृतियोंका और कमसे कम १ प्रकृति का एक कालमें उदय होता है। इस प्रकार १ से लेकर १० तक १० उदयस्थान प्राप्त होते हैं किन्तु केवल ३ प्रकृतियों का

(१) 'मिच्छे सगाइचउरो सासणमीसे सगाइ तिण्णुदया। छप्पंचचउरपुव्वा तिअ चउरो अविरयाईणं ॥' पञ्च० सप्त० गा० २६ 'सत्तादि दसुक्कस्सं मिच्छे सासण (सासणा) मिस्सए णवुक्कस्सं। छादी य णवुक्कस्सं अविरदसम्मत्तमादिस्स ॥ पंचादि अट्ठणिहणा विरदाविरदे उदीरणट्ठाणा। एगादी तिगरहिदा सत्तुक्कस्सा य विरदस्स ॥' धव० उद० आ० प० १०२२। दसणवणवादि चउतियतिट्ठाण णवट्ठसगसगादि चऊ। ठाणा छादि तियं च य चदुवीसगदा अपुव्वो त्ति ॥४८०॥ उदयट्ठाणं दोण्हं पणबंधे होदि दोण्हमेकस्स। चदुविहबंधट्ठाणे सेसेसेयं हवे ठाणं ॥ ४८२ ॥' गो० कर्म०।

उदय कहीं प्राप्त नहीं होता अतः ३ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं बतलाया और इसलिए मोहनीयके कुल उदयस्थान ६ बतलाये हैं। ४४ नम्बरकी गाथामें 'विरए खओवसमिए' पद आया है, जिसका अर्थ 'क्षायोपशमिक विरत' होता है। सो इससे यहाँ प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत लेना चाहिये, क्यों कि क्षायोपशमिक विरत यह संज्ञा इन दो गुणस्थानवाले जीवोंकी ही है। इसके आगे जीवको या तो उपशामक संज्ञा हो जाती है या क्षपक। जो उपशमक श्रेणि पर चढ़ता है वह उपशमक और जो क्षपक श्रेणिपर चढ़ता है वह क्षपक कहलाता है। इनमें से किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंके कितने उदयस्थान होते हैं इसका स्पष्ट निर्देश गाथामें किया ही है। हम भी इन उदयस्थानों की सामान्य विवेचना करते समय उनका विशेष खुलासा कर आये हैं इसलिये यहाँ इस विषय में अधिक न लिखकर केवल गाथाओं के अर्थका स्पष्टीकरणमात्र किये देते हैं—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ७, ८, ९, और १० प्रकृतिक चार उदयस्थान होते हैं। यहां इनके भंगोंकी ८ चौबीसी प्राप्त होती हैं। सास्वादन और मिश्र में ७, ८, और ९ प्रकृतिक तीन तीन उदयस्थान होते हैं। यहाँ इनके भंगोंकी क्रमसे ४ और ४ चौबीसी प्राप्त होती हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें ६, ७, ८ और ९ प्रकृतिक चार उदयस्थान होते हैं। यहाँ इनके भंगोंकी ८ चौबीसी प्राप्त होती हैं। देशविरत गुणस्थानमें ५, ६, ७ और ८ प्रकृतिक चार उदयस्थान होते हैं। यहां इनके भंगोंकी ८ चौबीसी प्राप्त होती हैं। प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें ४,

५, ६, और ७ प्रकृतिक चार उदयस्थान होते हैं। यहाँ भी भंगोंकी अपेक्षा चार चौबीसी प्राप्त होती हैं। अपूर्वकरण गुणस्थानमें ४, ५, और ६ प्रकृतिक तीन उदयस्थान होते हैं। यहाँ इनके भंगोंकी चार चौबीसी प्राप्त होती हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक इस प्रकार दो उदयस्थान होते हैं। यहाँ दो प्रकृतिक उदयस्थानमें क्रोधादि चारोंमें कोई एक और तीन वेदोंमेंसे कोई एक इस प्रकार दो प्रकृतियोंका उदय होता है। तो यहाँ तीन वेदोंसे संज्वलन क्रोधादि चारको गुणित करने पर १२ भंग प्राप्त होते हैं। तदनन्तर वेदकी उदयव्युच्छित्ति हो जाने पर एक प्रकृतिक उदयस्थान होता है। जो चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक बन्धके समय प्राप्त होता है। यद्यपि एक प्रकृतिक उदयमें चार प्रकृतिक बन्धकी अपेक्षा चार, तीन प्रकृतिक बन्धकी अपेक्षा तीन, दो प्रकृतिक बन्धकी अपेक्षा दो और एक प्रकृतिक बन्धकी अपेक्षा एक इस प्रकार कुल १० भंग कहे जाते हैं किन्तु यहां बन्धस्थानोंके भेदकी अपेक्षा न करके कुल ४ भंग ही विवक्षित हैं। तथा सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें एक सूक्ष्म लोभका उदय होता है अतः वहां एक ही भंग है इस प्रकार एक प्रकृतिक उदय में कुल पाँच भंग होते हैं। इससे आगे उपशान्त मोह आदि गुणस्थानोंमें मोहनीयका उदय नहीं होता अतः उनमें उदयकी अपेक्षा एक भी भंग नहीं होता। इस प्रकार यहाँ उक्त गाथाओंके निर्देशानुसार किस गुणस्थानमें कौन कौन उदयस्थान और उनके कितने भंग होते हैं इसका विचार

१३. योग, उपयोग और लेश्याओंमें संवेध भङ्ग

अब योग और उपयोगादिकी अपेक्षा इन भंगोंका कथन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

जोगोवओगलेसाइएहिं गुणिया हवंति कायव्वा।
जे जत्थ गुणट्ठाणे हवंति ते तत्थ गुणकारा ॥४७॥

अर्थ—इन उदयभंगोंको योग, उपयोग और लेश्या आदिसे गुणित करना चाहिये। इसके लिये जिस गुणस्थानमें जितने योगादि हों वहाँ गुणकारकी संख्या उतनी होती है॥

विशेषार्थ—किस गुणस्थानमें कितने उदय विकल्प और कितने पदवृन्द होते हैं इसका निर्देश पहले कर ही आये हैं। किन्तु अभीतक यह नहीं बतलाया कि योग, उपयोग और लेश्याओंकी अपेक्षा उनकी संख्या कितनी हो जाती है, अतः आगे इसी बातके बतानेका प्रयत्न किया जाता है।

इस विषयमें सामान्य नियम तो यह है कि जिस गुणस्थानमें योगादिक की जितनी संख्या हो उससे उस गुणस्थानके उदयविकल्प और पदवृन्दों को गुणित कर देने पर योगादिकी अपेक्षा प्रत्येक गुणस्थानमें उदयविकल्प और पदवृन्द आ जाते हैं। अतः

---

(१) 'एवं जोगुवओगा लेसाई भेयओ बहूभेया। जा जस्स जंमि उ गुणे संखा सा तंमि गुणगारो ॥'—पञ्च० सप्त० गा० ११७। 'उदयट्ठाणं पयडिं सगसगउवजोगजोग आदीहिं। गुणयित्ता मेलविदे पदसंखा पयडिसंखा य ॥'—गो० कर्म० गा० ४६०।

थी। किन्तु सास्वादनके वैक्रिय मिश्रकाययोगमें नपुंसकवेदका उदय नहीं होता, अतः १२ योगोंकी तो ४८ चौबीसी हुई और वैक्रिय मिश्रके ४ षोडशक हुए। इस प्रकार यहां सब भंग १२१६ होते हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ४ मनोयोग, ४ वचनयोग, औदारिककाययोग और वैक्रियकाययोग ये १० योग और भंगोंकी ४ चौबीसी होती हैं, अतः ४ चौबीसी को १० से गुणित करने पर यहां कुल भंग ९६० होते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें १३ योग और भंगोंकी ८ चौबीसी होती हैं। किन्तु ऐसा नियम है कि चौथे गुणस्थानके वैक्रियमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोगमें स्त्रीवेद नहीं होता, क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रीवेदियोंमें नहीं उत्पन्न होता। इसलिये इन दो योगोंमें भंगोंकी आठ चौबीसी प्राप्त न होकर आठ षोडशक प्राप्त होते हैं। यहां पर मलयगिरि आचार्य लिखते हैं कि स्त्रीवेदी सम्यग्दृष्टि जीव वैक्रियमिश्रकाय योगी और कार्मण काययोगी नहीं होता यह कथन बहुलताकी अपेक्षासे किया है। वैसे तो कदाचित् इनमें भी स्त्रीवेदके साथ सम्यग्दृष्टियोंका उत्पाद देखा जाता है इसके लिये उन्होंने चूर्णिका निम्न वाक्य उद्धृत किया है। यथा—

'कयाइ होज्ज इत्थिवेयगेसु वि।'

अर्थात्—'कदाचित् सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रीवेदियोंमें भी उत्पन्न होता है।'

---

(१) दिगम्बर परंपरामें यही एक मत मिलता है कि स्त्री वेदियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नहीं उत्पन्न होता।

अब उपयोगोंसे गुणित करने पर पदवृन्दोंका कितना प्रमाण होता है यह बतलाते हैं— मिथ्यात्वमें ६८, सास्वादन में ३२ और मिश्रमें ३२ उदयस्थानपद हैं जिनका जोड़ १३२ होता है अब इन्हें यहाँ सम्भव ५ उपयोगों से गुणित करने पर ६६० हुए। अविरतसम्यग्दृष्टिमें ६० और देश विरतमें ५२ उदयस्थान पद हैं जिनका जोड़ ११२ होता है। इन्हें यहाँ सम्भव ६ उपयोगोंसे गुणित करने पर ६७२ हुए। तथा प्रमत्तमें ४४ अप्रमत्तमें ४४ और अपूर्वकरणमें २० उदयस्थान पद हैं जिनका जोड़ १८० होता है। अब इन्हें यहाँ सम्भव ७ उपयोगोंसे गुणित करने पर ७५६ हुए। तथा इन सबका जोड़ २०८८ हुआ। इन्हें भंगों की अपेक्षा २४ से गुणित कर देने पर आठ गुणस्थानोंके कुल पदवृन्दोंका प्रमाण ५०११२ होता है। तदनन्तर दो प्रकृतिक उदयस्थानके पदवृन्द २४ और एक प्रकृतिक उदयस्थानके पदवृन्द ५ इनका जोड़ २९ हुआ। सो इन्हें यहाँ सम्भव ७ उपयोगोंसे गुणित कर देने पर २०३ पदवृन्द और प्राप्त हुए जिन्हें पूर्वोक्त पदवृन्दोंमें सम्मिलित कर देने पर कुल पदवृन्दोंका प्रमाण ५०३१५ होता है। कहा भी है—

'पन्नासं च सहस्सा तिन्नि सया चेह पन्नरसा।'

अर्थात्—'मोहनीयके पदवृन्दोंको वहाँ सम्भव उपयोगोंसे गुणित करने पर उनका कुल प्रमाण ५०३१५ होता है।'

किन्तु जब मतान्तरकी अपेक्षा मिश्र गुणस्थानमें ६ उपयोग स्वीकार कर लिये जाते हैं तब इन पदवृन्दोंका प्रमाण ५१०८३ हो जाता है, क्योंकि तब १ × ३२ × २४ = ७६८ भंग बढ़ जाते हैं।

(१) पञ्च० सप्त० गा० ११८।

अब लेश्याओंकी अपेक्षा पदवृन्द बतलाते हैं—

मिथ्यात्व के ६८ सास्वादनके ३२ मिश्रके ३२ और अविरत सम्यग्दृष्टिके ६० पदोंका जोड़ १६२ हुआ। सो इन्हें यहाँ सम्भव ६ लेश्याओंसे गुणित कर देने पर ११५२ होते हैं। देशविरतके ५२ प्रमत्तके ४४ और अप्रमत्तके ४४ पदोंका जोड़ १४० हुआ। सो इन्हें यहाँ सम्भव ३ लेश्याओंसे गुणित कर देने पर ४२० होते हैं। तथा अपूर्वकरणमें पद २० हैं। किन्तु यहाँ एक ही लेश्या है अतः इनका प्रमाण २० ही हुआ। इन सबका जोड़ १५९२ हुआ। अब इन्हें भंगों की अपेक्षा २४ से गुणित कर देने पर आठ गुणस्थानोंके कुल पदवृन्द ३८२०८ होते हैं। तदनन्तर इनमें दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक पदवृन्द मिला देने पर कुल पदवृन्द ३८२३७ होते हैं। कहा भी है—

तिगहीणा तेवन्ना सया य उदयाण होंति लेसाणं।
अडतीस सहस्साइं पयाण सय दो य सगतीसा॥'

अर्थात्—'मोहनीयके उदयस्थान और पदवृन्दोंको लेश्याओंसे गुणित करने पर उनका कुल प्रमाण क्रमसे ५२९७ और ३८२३७ होता है।

(१) पञ्चसं० सप्त० गा० ११७।

इस प्रकार मोहनीयके प्रत्येक गुणस्थान सम्बन्धी उदयस्थान विकल्प और पदवृन्दोंको वहाँ सम्भव योग, उपयोग और लेश्याओंसे गुणित करने पर उनका कुल प्रमाण कितना होता है इसका विचार किया।

१४. गुणस्थानोंमें मोहनीयके संवेधभंग

अब सत्तास्थानोंका विचार क्रम प्राप्त है—

तिण्णेगे एगेगं तिग मीसे पंच चउसु नियट्टिए तिन्नि।
एक्कार बायरम्मी सुहुमे चउ तिन्नि उवसंते ॥ ४८ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके मिथ्यात्वमें तीन, सास्वादनमें एक, मिश्रमें तीन, अविरत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमें पाँच पाँच, अपूर्वकरणमें तीन अनिवृत्तिकरणमें ग्यारह, सूक्ष्मसम्परायमें चार और उपशान्तमोहमें तीन सत्त्वस्थान होते हैं ॥

विशेषार्थ—किस गुणस्थानमें कितने सत्त्वस्थान होते हैं और उनके वहाँ होनेका कारण क्या है इसका विचार पहले कर आये हैं। यहाँ संकेतमात्र किया है। मिथ्यात्वमें २८, २७ और २६ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। सास्वादनमें २८ प्रकृतिक एक ही सत्त्वस्थान होता है। मिश्रमें २८, २७ और २४ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें २८, २४, २३, २२ और २१ ये पाँच सत्त्वस्थान होते हैं। अपूर्वकरणमें २८, २४ और २१ ये तीन सत्त्वस्थान होते हैं। अनिवृत्तिकरणमें २८, २४, २१, १३, १२, ११, ५, ४, ३, २ और १ ये ग्यारह सत्त्वस्थान होते हैं। सूक्ष्मसम्परायमें २८, २४, २१ और १ ये चार सत्त्वस्थान होते हैं।

(१. 'तिन्नेगे एगेगं दो मिस्से चदुसु पण णियट्टीए। तिण्णि य थूलेक्कारं सुहुमे चत्तारि तिण्णि उवसंते।'—गो० कर्म० गा० ५०६।

बन्धस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	९	२१	८	९२,८८
		२५	८	९२,८८
		२६	२८८	९२,८८
		२७	८	९२,८८
		२८	५९२	९२,८८
		२९	११६८	९२,८८
		३०	१७३६	९२,८८,८६
		३१	११५२	९२,८८,८६
२९	९२४०	२१	२३	९२,८८,८६,८०,७८
		२४	११	९२,८८,८६,८०,७८
		२५	१५	९२,८८,८६,८०,७८
		२६	३११	९२,८८,८६,८०,७८
		२७	१४	९२,८८,८६,८०
		२८	५९८	९२,८८,८६,८०
		२९	११८०	९२,८८,८६,८०
		३०	१७५४	९२,८८,८६,८०
		३१	११६८	९२,८८,८६,८०
३०	४६३२	२१	२३	९२,८८,८६,८०,७८
		२४	११	९२,८८,८६,८०,७८
		२५	१५	९२,८८,८६,८०,७८
		२६	३११	९२,८८,८६,८०,७८
		२७	१४	९२,८८,८६,८०
		२८	५९८	९२,८८,८६,८०
		२९	११८०	९२,८८,८६,८०
		३०	१७५४	९२,८८,८६,८०
		३१	११६४	९२,८८,८६,८०

मनुष्यगतिमें २३ का बन्ध करनेवाले मनुष्यके २१, २२, २६, २७, २८, २९ और ३० ये सात उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे २५ और २७ ये दो उदयस्थान विक्रिया करनेवाले मनुष्यके होते हैं। किन्तु आहारक मनुष्यके २३ का बन्ध नहीं होता, अतः यहाँ ये आहारकके नहीं लेना चाहिये। इन दो उदयस्थानोंमेंसे प्रत्येकमें ९२ और ८८ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। तथा शेष पाँच उदयस्थानोंमें से प्रत्येकमें ९२, ८८, ८६ और ८० ये चार चार सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार २३ प्रकृतिक बन्धस्थानमें २४ सत्तास्थान होते हैं। इसी प्रकार २५ और २६ प्रकृतिक बन्धस्थानोंमें भी चौबीस चौबीस सत्तास्थान जानना चाहिये। मनुष्यगति प्रायोग्य और तिर्यंचगति प्रायोग्य २९ और ३० प्रकृतिक बन्धस्थानोंमें भी इसी प्रकार चौबीस चौबीस सत्तास्थान होते हैं। २८ प्रकृतिक बन्धस्थानमें २१, २५, २६, २७, २८, २९ और ३० ये सात उदयस्थान होते हैं। इनमेंसे २१ और २६ ये दो उदयस्थान सम्यग्दृष्टिके करण अपर्याप्त अवस्थामें होते हैं। २५ और २७ ये दो उदयस्थान वैक्रिय या आहारक संयतके तथा २८ और २९ ये दो उदयस्थान विक्रिया करनेवाले, अविरतसम्यग्दृष्टि और आहारक संयतके होते हैं। तथा ३० प्रकृतिक उदयस्थान सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टियोंके होता है। इन सब उदयस्थानोंमें ९२ और ८८ ये दो दो सत्तास्थान होते हैं। इसमें भी आहारक संयतके ९२ प्रकृतिक एक सत्तास्थान ही होता है। किन्तु नरकगति-प्रायोग्य २८ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवालेके ३० प्रकृतिक उदयस्थान में ९२, ८९, ८८ और ८६ ये चार सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार २८ प्रकृतिक बन्धस्थानमें १६ सत्तास्थान होते हैं। तथा तीर्थंकर प्रकृतिके साथ देवगतिप्रायोग्य २९ प्रकृतियोंका बन्ध करनेवालेके

मनुष्यगतिमें नामकर्मके बन्ध, उदय और सत्तास्थानोंके संवेधका ज्ञापक कोष्ठक—

[५०]

बन्धस्थान	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२३	२१	८	९२, ८८, ८६, ८०
	२५	८	९२, ८८,
	२६	२०९	९२, ८८, ८६, ८०
	२७	८	९२, ८८,
	२८	५८४	९२, ८८ ८६, ८०
	२९	५८५	९२, ८८, ८६, ८०
	३०	११५२	९२, ८८, ८६, ८०
२५	२१		९२, ८८, ८६, ८०
	२५		९२, ८८,
	२६		९२ ८८ ८६ ८०
	२७	„	९२, ८८.
	२८		९२, ८८, ८६, ८०
	२९		९२, ८८ ८६, ८०
	३०		९२, ८८, ८६, ८०
२६	२१		९२, ८८, ८६, ८०
	२५		९२, ८८
	२६		९२, ८८, ८६, ८०
	२७	„	९२, ८८,
	२८		९२, ८८, ८६, ८०
	२९		९२, ८८, ८६, ८०
	३०		९२, ८८ ८६, ८०

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८	१६	२१	९	९२, ८९, ८६, ८०, ७८
		२६	९	९२, ८९, ८६, ८०, ७८
		२८	६	९२, ८९, ८६, ८०
		२९	१२	९२, ८९, ८६, ८०
		३०	१८	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	१२	९२, ८८, ८६, ८०
२९	९२४०	२१	९	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	९	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२८	६	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	१२	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	१८	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	१२	९२, ८८, ८६, ८०
३०	४६३२	२१	९	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	९	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२८	६	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	१२	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	१८	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	१२	९२, ८८, ८६, ८०

प्राप्त कर्मपरमाणु रहते हैं। तो भी सामान्य नियम यह है कि जहाँ जिस कर्मका उदय होता है वहां उसकी उदीरणा अवश्य होती है। किन्तु इसके सात अपवाद हैं—पहला यह है कि जिनका स्वोदयसे सत्त्वनाश होता है उनकी उदीरणाव्युच्छित्ति एक आवलि काल पहले हो जाती है और उदयव्युच्छित्ति एक आवलि काल बाद होती है। दूसरा अपवाद यह है कि वेदनीय और मनुष्यायुकी उदीरणा प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही होती है जब कि इनका उदय अयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है। तीसरा अपवाद यह है कि जिन प्रकृतियोंका अयोगिकेवली गुणस्थानमें उदय है उनकी उदीरणा सयोगिकेवली गुणस्थान तक ही होती है। चौथा अपवाद यह है कि चारों आयुकर्मोंका अपने अपने भवकी अन्तिम आवलिमें उदय ही होता है उदीरणा नहीं। पांचवां अपवाद यह है कि निद्रादिक पांचका शरीर पर्याप्तिके बाद इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने तक उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती। छठा अपवाद यह है कि अन्तरकरण करनेके बाद प्रथम स्थितिमें एक आवलि काल शेष रहने पर मिथ्यात्वका, क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त करनेवालेके सम्यक्त्वका और उपशमश्रेणिमें जो जिस वेदके उदयसे उपशमश्रेणि पर चढ़ा है उसके उस वेदका उदय ही होता है उदीरणा नहीं। तथा सातवां अपवाद यह है कि उपशम श्रेणिके सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानमें भी एक आवलिकाल शेष रहने पर सूक्ष्म लोभका उदय ही होता है उदीरणा नहीं। अब यदि इन सात अपवादवाली प्रकृतियोंका संकलन किया जाता है तो वे कुल ४१ होती हैं। यही सबब है कि ग्रन्थकारने ४१ प्रकृतियोंको छोड़कर शेष सब प्रकृतियोंके उदय और उदीरणामें स्वामित्वकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं बतलाई है।

पढमकसायचउक्कं दंसणतिग सत्तगा वि उवसंता।
अविरतसम्मत्ताओ जाव नियट्टि त्ति नायव्वा ॥ ६२ ॥

अर्थ—प्रथम कषायकी चौकड़ी और तीन दर्शनमोहनीय ये सात प्रकृतियाँ अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अपूर्वकरण तक नियमसे उपशान्त हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि अपूर्वकरणको छोड़कर शेष उपर्युक्त गुणस्थानवाले जीव इनका यथायोग्य उपशम करते हैं किन्तु अपूर्वकरणमें ये नियमसे उपशान्त ही प्राप्त होती हैं॥

विशेषार्थ—श्रेणियाँ दो हैं उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि। उपशमश्रेणिमें जीव चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम करता है और क्षपकश्रेणिमें जीव चारित्रमोहनीय और यथासम्भव अन्य कर्मोंका क्षय करता है। इनमेंसे जब जीव उपशमश्रेणिको प्राप्त करता है तब पहले अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उपशम करता है। तदनन्तर दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उपशम करके उपशम-श्रेणिके योग्य होता है। यहाँ ग्रन्थकारने इस गाथामें उक्त सात प्रकृतियोंके उपशम करनेका निर्देश करते हुए पहले अनन्तानुबन्धी चतुष्कके उपशम करनेकी सूचना की है अतः पहले इसीका विवेचन किया जाता है—

जिसके चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिक काय-योग इनमेंसे कोई एक योग हो, जो पीत, पद्म और शुक्ल इनमेंसे किसी एक लेश्यावाला हो, जो साकार उपयोगवाला हो, जिसके आयु कर्मके विना सत्तामें स्थित शेष सात कर्मोंकी स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरके भीतर हो, जिसकी चित्तवृत्ति अंतर्मुहूर्त पहलेसे उत्तरोत्तर निर्मल हो, जो परावर्तमान अशुभ प्रकृतियोंको छोड़कर

शुभ प्रकृतियोंका ही बन्ध करने लगा हो, जिसने अशुभ प्रकृतियोंके सत्तामें स्थित चतुःस्थानी अनुभागको द्विस्थानी कर लिया, जिसने शुभ प्रकृतियोंके सत्तामें स्थित द्विस्थानी अनुभागको चतुःस्थानी कर लिया हो और जो एक स्थितिबन्धके पूर्ण होने पर अन्य स्थितिबन्धको पूर्व पूर्व स्थितिबन्धकी अपेक्षा उत्तरोत्तर पल्यके संख्यातवें भाग कम बाँधने लगा हो ऐसा अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत या अप्रमत्तविरत जीव ही अनन्तानुबन्धी चतुष्कको उपशमाता है। जिसके लिये यह जीव यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामके तीन करण करता है। जिसके ऊपर बतलाये अनुसार तीन भेद हैं। यथाप्रवृत्तकरणमें करणके पहलेके समान अवस्था बनी रहती है अतः इसे यथाप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसका दूसरा नाम पूर्वप्रवृत्त करण भी है।[1] अपूर्वकरणमें स्थितिबन्ध आदि बहुतसी क्रियायें होने लगती हैं इसलिये इसे अपूर्वकरण कहते हैं। और अनिवृत्तिकरणमें समान कालवालोंकी विशुद्धि समान होती है इसलिये इसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अब इसी विषयको विशेष स्पष्टीकरणके साथ बतलाते हैं—

यथाप्रवृत्त करणमें प्रत्येक समय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि होती है। और शुभ प्रकृतियोंका बन्ध आदि पूर्ववत् चालू रहता है। किन्तु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी और गुणसंक्रम नहीं होता क्यों कि यहाँ इनके योग्य विशुद्धि नहीं पाई जाती। तथा नाना जीवोंकी अपेक्षा इस करणमें प्रति समय असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं जो छह स्थान पतित होते हैं। हानि और वृद्धिकी अपेक्षा ये छह स्थान दो प्रकारके हैं।

---

(१) दिगम्बर परम्परामें अधःप्रवृत्तकरण संज्ञा मिलती है।

अनन्त भागहानि, असंख्यात भागहानि, संख्यातभागहानि, संख्यातगुण हानि, असंख्यात गुणहानि और अनन्तगुणहानि ये हानिरूप छह स्थान हैं। तथा अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्तगुण वृद्धि ये वृद्धिरूप छह स्थान हैं। आशय यह है कि जब हम एक जीवकी अपेक्षा विचार करते हैं तब पहले समयके परिणामोंसे दूसरे समयके परिणाम अनन्तगुणी विशुद्धिको लिये हुए प्राप्त होते हैं इत्यादि। और जब नाना जीवोंकी अपेक्षा विचार करते हैं तब एक समयवर्ती नाना जीवोंके परिणाम छह स्थान पतित प्राप्त होते हैं। तथा यथाप्रवृत्तकरणके पहले समयमें नाना जीवोंकी अपेक्षा जितने परिणाम होते हैं, उनसे दूसरे समयमें विशेष अधिक होते हैं। दूसरे समयसे तीसरे समयमें और तीसरे समयसे चौथे समयमें इसी प्रकार अन्त तक विशेष अधिक विशेष अधिक परिणाम होते हैं। इसमें भी पहले समयमें जघन्य विशुद्धि सबसे थोड़ी होती है। इससे दूसरे समयमें जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। इससे तीसरे समयमें जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। इस प्रकार यथाप्रवृत्त करणके संख्यातवें भागके प्राप्त होने तक यही क्रम चालू रहता है। पर यहाँ जो जघन्य विशुद्धि प्राप्त होती है उससे पहले समयकी उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। तदनन्तर पहले समयकी उत्कृष्ट विशुद्धिसे यथाप्रवृत्तकरणके संख्यातवें भागके अगले समयकी जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। पुनः इससे दूसरे समयकी उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। पुनः इससे यथाप्रवृत्त करणके संख्यातवें भागके आगे दूसरे समयकी जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। इस प्रकार यथाप्रवृत्त करणके अन्तिम समयमें जघन्य विशुद्धिस्थानके प्राप्त होने तक ऊपर और

रसघातमें अशुभ प्रकृतियोंका सत्तामें स्थित जो अनुभाग है उसके अनन्तवें भाग प्रमाण अनुभाग को छोड़ कर शेषका अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा घात किया जाता है। तदनन्तर जो अनन्तवाँ भाग अनुभाग शेष बचा था उसके अनन्तवें भागको छोड़ कर शेषका अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा घात किया जाता है। इस प्रकार एक एक स्थितिखण्डके उत्कीरण कालके भीतर हजारों अनुभागखण्ड खपा दिये जाते हैं।

गुणश्रेणिमें अनन्तानुबन्धीचतुष्ककी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिको छोड़कर ऊपरकी स्थितिवाले दलिकोंमेंसे प्रति समय कुछ दलिक लेकर उदयवलिके ऊपरकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिमें उनका निक्षेप किया जाता है। क्रम यह है कि पहले समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं उनमेंसे सबसे कम दलिक उदयावलिके ऊपर पहले समयमें स्थापित किये जाते हैं। इनसे असंख्यातगुणे दलिक दूसरे समयमें स्थापित किये जाते हैं। इनसे असंख्यातगुणे दलिक तीसरे समयमें स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तकाल के अन्तिम समय तक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका निक्षेप किया जाता है। यह प्रथम समयमें ग्रहण किये गये दलिकोंकी निक्षेपविधि है। दूसरे आदि समयोंमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं उनका निक्षेप भी इसी प्रकार होता है। किन्तु इतनी विशेषता है कि गुणश्रेणिकी रचनाके पहले समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं वे सबसे थोड़े होते हैं दूसरे समयमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं वे इनसे असंख्यातगुणे होते हैं। इसी प्रकार गुणश्रेणि करणके अन्तिम समयके प्राप्त होने तक तृतीयादि समयोंमें जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं वे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे होते हैं। यहाँ इतनी विशेषता और है कि अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणका काल जिस प्रकार उत्तरोत्तर व्यतीत होता

जीवोंके परिणाम सर्वथा भिन्न ही होते हैं। तात्पर्य यह है कि अनिवृत्तिकरणके पहले समयमें जो जीव हैं, थे और होंगे उन सबके परिणाम एक से ही होते हैं। दूसरे समयमें जो जीव हैं, थे और होंगे उनके भी परिणाम एकसे ही होते हैं। इसी प्रकार तृतीयादि समयोंमें भी समझना चाहिये। अनिवृत्तिकरणके इसलिये जितने समय हैं उतने ही इसके परिणाम होते हैं न्यूनाधिक नहीं। किन्तु इतनी विशेषता है कि इसके प्रथमादि समयोंमें जो विशुद्धि होती है द्वितीयादि समयोंमें वह उत्तरोत्तर अनंतगुणी होती है। अपूर्वकरणके स्थितिघात आदि पांचों कार्य अनिवृत्तिकरणमें भी चालू रहते हैं। इसके अन्तर्मुहूर्त कालमेंसे संख्यात भागोंके बीत जाने पर जब एक भाग शेष रहता है तब अनन्तानुबन्धीचतुष्कके एक आवलिप्रमाण नीचेके निषेकोंको छोड़ कर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण निषेकोंका अन्तरकरण किया जाता है। इस क्रियाके करनेमें न्यूतन स्थितिबन्ध के कालके बराबर समय लगता है। एक आवलि या अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नीचेकी और ऊपर की स्थितिको छोड़कर मध्यमेंसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकोंको उठाकर उनका बंधनेवाली अन्य सजातीय प्रकृतियोंमें प्रक्षेप करनेका नाम अन्तरकरण है। यदि उदयवाली प्रकृतियोंका अन्तरकरण किया जाता है तो उनकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण छोड़ दी जाती है और यदि अनुदयवाली प्रकृतियोंका अन्तरकरण किया जाता है तो उनकी नीचेकी स्थिति आवलिप्रमाण छोड़ दी जाती है। चूंकि यहां अनन्तानुबन्धी चतुष्कका अन्तर करण करना है। किन्तु उसका चौथे आदि गुणस्थानोंमें उदय नहीं होता इसलिये इसके नीचेके आवलि प्रमाण दलिकोंको छोड़कर ऊपरके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकोंका अन्तरकरण किया जाता है। अन्तरकरणमें अन्तरका अर्थ व्यवधान और करणका अर्थ क्रिया है। तदनुसार जिन प्रकृतियोंका अन्तर-

कोंका उपशम किया जाता है. पहले समयमें थोड़े दलिकोंका उपशम किया जाता है। दूसरे समयमें उससे असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम किया जाता है। तीसरे समयमें इससे भी असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम किया जाता है अन्तर्मुहूर्त कालतक इसी प्रकार असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकोंका प्रति समय उपशम किया जाता है। इतने समयमें समस्त अनंतानुबन्धी चतुष्कका उपशम हो जाता है। जिस प्रकार धूलिको पानीसे सींच सींच कर दुरमटसे कूट देने पर वह जम जाती है उसी प्रकार कर्मरज भी विशुद्धिरूपी जल से सींच सींच कर अनिवृत्तिकरण-रूपी दुरमटके द्वारा कूट दिये जाने पर संक्रमण, उदय, उदीरणा निधत्ति और निकाचनाके अयोग्य हो जाती है। इसे ही अनन्तानुबन्धीका उपशम कहते हैं।

किन्तु अन्य आचार्योंका मत है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उपशम न होकर विसंयोजना ही होती है। विसंयोजना क्षपणाका दूसरा नाम है। किन्तु विसंयोजना और क्षपणामें केवल इतना अन्तर है कि जिन प्रकृतियोंकी विसंयोजना होती है उनकी पुनः सत्ता प्राप्त हो जाती है। किन्तु जिन प्रकृतियोंकी क्षपणा

१ कर्मप्रकृतिमें अनन्तानुबन्धीकी उपशमनाका स्पष्ट निषेध किया है। वहाँ बतलाया है कि चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानवर्ती यथायोग्य चारों गतिके पर्याप्त जीव तीन करणोंके द्वारा अनन्तानुबन्धी चतुष्कका विसंयोजन करते हैं, किन्तु विसंयोजन करते समय न तो अन्तरकरण होता है और न अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उपशम ही होता है—

चउगइया पज्जत्ता तिन्नि वि संयोजणा वियोजंति।
करणेहिं तीहिं सहिया नंतरकरणं उवसमो वा॥'

दिगम्बर परम्परामें कषायपाहुड, उसकी चूर्णि, षट्खंडागम और लब्धि

स्थितिमें दो आवलिका काल शेष रहने तक ही होता है। तथा इसी समयमें छह नोकषायोंके दलिकोंका पुरुषवेदमें क्षेपण न करके संज्वलन क्रोधादिकमें क्षेपण करता है। हास्यादि छहका उपशम हो जानेके बाद एक समय कम दो आवलिकाकालमें सकल पुरुषवेदका उपशम करता है। पहले समयमें सबसे थोड़े दलिकोंका उपशम करता है। दूसरे समयमें असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम करता है। तीसरे समयमें इससे असंख्यातगुणे दलिकोंका उपशम करता है। दो समय कम दो आवलियोंके अन्तिम समय तक इसी प्रकार उपशम करता है। तथा दो समय कम दो आवलि काल तक प्रति समय यथाप्रवृत्त संक्रमके द्वारा पर प्रकृतियोंमें दलिकोंका निक्षेप करता है। पहले समयमें बहुत दलिकोंका निक्षेप करता है। दूसरे समयमें विशेष हीन दलिकोंका निक्षेप करता है। तीसरे समयमें इससे विशेष हीन दलिकोंका निक्षेप करता है। अन्तिम समय तक इसी प्रकार जानना चाहिये। जिस समय हास्यादि छहका उपशम हो जाता है और पुरुषवेदकी प्रथम स्थिति क्षीण हो जाती है उसके अनन्तर समयसे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध और संज्वलन क्रोधके उपशम करनेका एक साथ प्रारम्भ करता है। तथा संज्वलन क्रोधकी प्रथम स्थितिमें एक समय कम तीन आवलिका शेष रह जानेपर अप्रत्याख्यानावरण क्रोध और प्रत्याख्यानावरण क्रोधके दलिकोंका संज्वलन क्रोधमें निक्षेप न करके संज्वलन मानादिकमें निक्षेप करता है। तथा दो आवलि कालके शेष रहने पर आगाल नहीं होता है किन्तु केवल उदीरणा ही होती है। और एक आवलिका कालके शेष रह जाने पर संज्वलन क्रोधके बन्ध, उदय और उदीरणाका विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोधका उपशम हो जाता है। उस

गत एक आवलिका प्रमाण दलिकोंको और उपरितन स्थि.
एक समय कम दो आवलिका कालमें बद्ध दलिकोंको .
कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। तदनन्तर प्रथम स्थि
गत एक आवलिका प्रमाण दलिकोंका स्तिबुक संक्रमके ऋ
क्रमसे संज्वलन मायामें निक्षेप करता है और एक समय ..
दो आवलिका कालमें बद्ध दलिकोंका पुरुषवेदके समान उप
करता है और परप्रकृतिरूपसे संक्रमण करता है। इस प्र
अप्रत्याख्यानावरण माया और प्रत्याख्यानावरण मायाके उप
होनेके बाद एक समय कम दो आवलिका कालमें संज्वलन
मायाका उपशम हो जाता है। जिस समय संज्वलन मायाके बन्ध
उदय और उदीरणाका विच्छेद होता है उसके अनन्तर समयसे
लेकर संज्वलन लोभको द्वितीय स्थितिसे दलिकोंको लेकर उनकी
लोभवेदक कालके तीन भागोंमेंसे दो भाग प्रमाण प्रथम स्थिति
करके वेदन करता है। इनमेंसे पहले त्रिभागका नाम अश्वकर्ण
करण काल है और दूसरे त्रिभागका नाम किट्टीकरणकाल है।
अश्वकर्णकरण कालमें पूर्वस्पर्धकोंसे दलिकोंको लेकर अपूर्व
स्पर्द्धक करता है।

बात यह है कि जीव प्रति समय अनन्तानन्त परमाणुओंसे
बने हुए स्कन्धोंको कर्मरूपसे ग्रहण करता है। इनमेंसे प्रत्येक
स्कन्धमें जो सबसे जघन्य रसवाला परमाणु है उसके रसको
बुद्धिसे छेद करने पर सब जीवोंसे अनन्तगुणे अविभाग प्रति-
च्छेद प्राप्त होते हैं। अन्य परमाणुमें एक अधिक अविभाग
प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। अन्य परमाणुमें दो अधिक अविभाग
प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सिद्धोंके अनन्तवें भाग
अधिक रसके अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होने तक प्रत्येक परमाणुमें
रसका एक एक अविभाग प्रतिच्छेद बढ़ाते जाना चाहिये।

विच्छेद तथा मोहनीयका उदय और सत्ताविच्छेद हो जाता है।

अब पूर्वोक्त अर्थका संकलन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं—

पुरिसं कोहे कोहं माणे माणं च छुहइ मायाए।
मायं च छुहइ लोहे लोहं सुहुमं पि तो हणइ ॥६४॥

अर्थ—पुरुषवेदका क्रोधमें, क्रोधका मानमें, मानका मायामें और मायाका लोभमें संक्रमण करता है। तथा सूक्ष्म लोभका स्वोदयसे घात करता है।

विशेषार्थ—पुरुषवेदकी बन्धादिककी व्युच्छित्ति हो जाने पर उसका गुण संक्रमणके द्वारा संज्वलन क्रोधमें संक्रमण करता है। संज्वलन क्रोधके बन्धादिककी व्युच्छित्ति हो जाने पर उसका संज्वलन मानमें संक्रमण करता है। संज्वलन मानके बन्धादिककी व्युच्छित्ति हो जाने पर उसका संज्वलन मायामें संक्रमण करता है। संज्वलन मायाके भी बन्धादिककी व्युच्छित्ति हो जाने पर उसका संज्वलन लोभमें संक्रमण करता है। तथा संज्वलन लोभके बन्धादिककी व्युच्छित्ति हो जाने पर सूक्ष्म किट्टीगत लोभका विनाश करता है। लोभका पूरी तरहसे क्षय हो जाने पर तदनन्तर समयमें क्षीणकषाय होता है। इसके क्षीणकषायके कालके बहुभागके व्यतीत होनेतक शेष कर्मोंके स्थितिघात आदि कार्य पहलेके समान चालू रहते हैं किन्तु क्षीणकषायके कालका जब एक भाग शेष रह जाता है त

(१) 'कोहं च छुहइ माणे माणं मायाए णियमसा छुहइ। मायं छुहइ लोहे पडिलोमो संकमो णत्थि ॥' क० पा० (क्षपणाधिकार)

हिन्दीव्याख्यासहित

सप्ततिकाप्रकरणके

परिशिष्ट

१ सप्ततिका प्रकरण की गाथाओं का अकारादि अनुक्रम